कर्ण महाकाव्य का सौन्दर्य सौष्ठव

कर्ण महाकाव्य का सौन्दर्य सौष्ठव

डॉ. आभा पूर्वे

एम.ए. (गृह विज्ञान (गोल्डमेडलिस्ट) और हिन्दी), एम.एड., पी-एच.डी
(व्याख्याता, शिक्षा संकाय, सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर)

अंगिका संसद
सराय · भागलपुर

ISBN : ९७८.८१.९७३६४०.७.५

प्रथम संस्करण
२०२४

सर्वाधिकार ©
लेखिकाधीन

प्रकाशक
अंगिका संसद
सराय, भागलपुर
(बिहार)-८१२ ००२
E-mail : angikasansad@gmail.com

हरियाणा कार्यालय
वार्ड-३३, सेक्टर-२८
सरस्वती विहार, गुरूग्राम-१२२००२

मुद्रक
Das Printer
गोविंदपुरी, दिल्ली।

मूल्य
दो सौ पचास रूपये मात्र

Karn Mahakavya Ka Saundarya Saushthav
By Dr. Abha Purbey Rs.250/-

आदरणीया
कश्मीरा सिंह दीदी
डॉ. कल्पना पाण्डेय दीदी
डॉ. मृदुला शुक्ला दीदी
एवं
डॉ. शतदल मंजरी बहन
के नाम

—आभा

क्यों जरूरी था यह ग्रंथ

यह नहीं कि डॉ. अमरेन्द्र के महाकाव्य 'कर्ण' पर यह पहली आलोचना पुस्तक होगी, इस महाकाव्य पर तो पहले भी स्वतंत्र रूप से पुस्तकें आ चुकी हैं और अगर डॉ. कल्पना पाण्डेय की चिट्ठियों में इस महाकाव्य के मूल्यांकनों को जोड़ दें, तो इसकी संख्या तीन तक पहुँच जायेगी, और सच कहूँ—अगर सभी सर्गों पर डॉ. कल्पना दीदी का मूल्यांकन आ गया होता, तो शायद मुझे इस पुस्तक को तैयार करने की जरूरत नहीं होती ।

मैंने कभी आदरणीय शत्रुसूदन श्रीवास्तव जी का एक पत्र पढ़ा था, जो कल्पना जी के नाम ही था। वह यही चाहते थे कि डॉ. अमरेन्द्र के कर्ण काव्य पर एक ऐसी आलोचना पुस्तक हो, जिसमें इस काव्य के प्रायः सभी पक्षों पर विचार हो। मुझे श्रीवास्तव जी का यह विचार अच्छा लगा था, और तभी से मैंने इस काव्य को दोबारा पढ़ना शुरू कर दिया और कुछ-कुछ लिखना भी । जहाँ-जहाँ कुछ शंकाएं होतीं तो महाकवि से सीधे संवाद करती। निःसंदेह इस संवाद ने इस पुस्तक को पूरा करने में भारी मदद की। यहाँ मैं इस ओर भी संकेत कर दूँ कि संवाद के दौरान मैंने अमरेन्द्र जी को कभी नहीं बताया कि इस वाद-विवाद के पीछे मेरा लक्ष्य क्या है? नहीं तो वह इस संबंध में बहुत कुछ नहीं बताते, जो उन्होंने बताया ।

बातचीत के क्रम में ही मैं यह जान पाई कि जब वह इस काव्य को रच रहे थे, तो जैसा कि इनसे प्रायः होता है—जो डायरी सामने में मिली, उसी में छंदों को लिख दिया और यही कारण रहा कि इस काव्य की जब प्रेस कॉपी तैयार हुई तो जिन सर्गों में बदलाव के लिए कुछ छंद जोड़े थे, वे मिले ही नहीं—उन्हें याद करना भी मुश्किल और बाद में तब मिले, जब महाकाव्य छप कर आया। डॉ. अमरेन्द्र का उपन्यास 'राधेय कर्ण' जो इस महाकाव्य का गद्यकाव्य है, उसमें उस छूटे और बदलाव को सुरक्षित रखा गया है—यह मुझे उपन्यासकार अमरेन्द्र ने ही बताया था । मैंने जब उनसे पूछा था कि क्या महाकाव्य के नवीन संस्करण में उन छूटे अंश या बदलाव को रखेंगे? तो इन्होंने कहा था कि इच्छा तो है !

जो हो, डॉ. अमरेन्द्र के महाकाव्य पर मेरी यह आलोचना पुस्तक आपके सामने है। अगर यह कुछ भी और कहीं से भी विद्वानों को संतुष्ट कर सकी तो मुझे भी संतोष होगा ।

—डॉ. आभा पूर्वे

सम्पर्क : शरतचंद पथ, मशाकचक,
भागलपुर-८१२००१ (बिहार)

शारदीय नवरात्र (प्रथम पूजा)
३ अक्तूबर २०२४

विषय-क्रम

- डॉ. अमरेन्द्र और आलोचक ९
- कर्ण महाकाव्य के विद्वान आलोचक १४
- कर्ण का प्रेरणास्रोत २४
- महाकाव्य के लक्षण और कर्ण २६
- कथानक ३७
- सर्ग-विधान ४६
- महाकाव्य के चरित्र ५०
- कर्ण काव्य में रस विधान ८०
- महाकाव्य का महाभाव ११४
- प्रकृत्ति और पर्यावरण १२०
- आधुनिकता के आयाम १४१
- मनोविज्ञान और कर्ण महाकाव्य १४३
- कल्पना का सौन्दर्य १४८
- शिल्प सौष्ठव १५२
- कर्ण महाकाव्य या काव्य रूपक १६७
- कर्ण में उदात्त और औचित्य का निर्वाह १६९
- छंद-विधान १७४
- कथावस्तु : आरोप और उत्तर १८४
- कर्ण पर केन्द्रित आधुनिक महाकाव्य १९०

■ सहायक संदर्भ ग्रंथ/समाचार-पत्र १९२

डॉ. अमरेन्द्र और आलोचक

डॉ. अमरेन्द्र के उदात्त व्यक्तित्व के संबंध में अगर संस्कृत, हिन्दी, उर्दू के के अनेक वरिष्ठ विद्वानों द्वारा लिखे गये विचारों को इकट्ठा किया जाय, तो यह सब वृहत ग्रंथ में भी शायद ही अट पाए। लेकिन पाँच जनवरी बीस सौ तेइस को इनके नागरिक अभिनंदन पर जो दो महत्वपूर्ण आलेख प्रकाशित हुए थे, उन्हें यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक होगा, क्यों कि ये आलेख डॉ. अमरेन्द्र के उदात्त व्यक्तित्व के गवाही हैं। इनमें प्रथम तो संस्कृत के जाने-माने विद्वान प्रो. कृपाशंकर पाण्डेय जी का है। पाण्डेय जी लिखते है :

''आदरणीय डॉ. अमरेन्द्र जी से मैं अभी तक मिला तो नहीं लेकिन बिहार आने के बाद शुरू में ही एक-दो बार उनसे फोन पर बात जरूर किया था, तब वे मुझे कहीं से भी बहुत बड़े लेखक नहीं लगे थे और न ही उन्होंने मुझसे कुछ ऐसा जताया ही था! बड़े लेखक जैसे व्यस्त, या अपने से छोटे लोगों से जरा दूरी बनाकर बात करनेवाले या फिर बड़े लेखकों वाला वो एटीट्यूड, जिससे डरकर जैसे छोटे लोग उनके पास जाने की हिम्मत नहीं करते हैं....ये सब उनमें मुझे कुछ महसूस नहीं हुआ था इसलिए वे मुझे अपने आस-पास के आम आदमी जैसे ही लगे, जो बड़े प्यार से सामनेवाले से बतियाते हैं। धीरे-धीरे जब मैंने उनका काम देखा, तो हतप्रभ रह गया। एक आदमी अकेले इतना काम कैसे कर सकता है और वह भी घर-गृहस्थी को सँभालते हुए। बिहार के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तो समझ में आता है कि अंगिका और हिन्दी के शिखर पुरुष, माँ भारती के वरदपुत्र डॉ. अमरेन्द्र जैसे साहित्यकार बिहार में ही हो सकते हैं। वे इतने सरल हैं कि छोटे-से-छोटे तुकबंदी करनेवाले से भी मित्रवत् आचरण करते हैं। जब वे अपने समकालीन साथियों की

कविता का अनुवाद करके खुश होते हैं, तो सहज ही विश्वास नहीं होता कि यह वही डॉ. अमरेन्द्र हैं, जो 'कर्ण' जैसे अतुलनीय महाकाव्य के गायक हैं।

फेसबुक पर उनकी पोस्ट पढ़ता रहता हूँ और अक्सर यह महसूस करता हूँ कि दूसरे व्यक्ति के गुणों को खोजकर उसे प्रकाशित कैसे किया जाता है, जिसे यह सीखना हो, तो वह डॉ. अमरेन्द्र की फेसबुक वाल पर जाकर यह सीख सकता है। संस्कृत में एक सूक्ति है :

परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदिविकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः!

अर्थात् अपने पर्वत के समान गुण को परमाणु के समान समझने वाले और दूसरों के परमाणु के समान गुण को पर्वत के समान समझकर अपने हृदय का विकास करते हुए संत कितने हैं! निश्चित ही बहुत कम ऐसे लोग हैं लेकिन डॉ. अमरेन्द्र को मैं ऐसा ही समझता हूँ।

डॉ. कृपाशंकर पाण्डेय
सहायक प्राध्यापक, संस्कृत विभाग
आर. डी. एण्ड डी. जे. कॉलेज, मुंगेर

डॉ. कृपाशंकर पाण्डेय जी की बातों को कुछ और स्पष्ट करते वरिष्ठ पत्रकार और नाटककार सत्यकेतु ने जो कुछ लिखा है, उसे भी यहाँ प्रस्तुत करना जरूरी है :

डॉ. अमरेन्द्र : भावुक मन और संकल्पित लेखन

हवाएं चलती हैं, तो अपने साथ दिशाबोध का भी भान कराती चलती हैं। यह दीगर बात है कि दिशा का अनुमान सबको नहीं होता। किंतु प्रकृति से सामंजस्य और व्यावहारिकता से संगत बैठानेवाले हवा की दिशा और उसके प्रभाव को सहज भांप लेते हैं—इसलिए कि उनकी ज्ञानेंद्रिय चौतन्य और कर्मेंद्रियां अधिकतम सक्रिय एवं संवेदनशील होती हैं। यही बात भाषाबोध, साहित्यबोध, इतिहासबोध, जातीयबोध और अस्मिताबोध के साथ भी लागू होती है। शब्दार्थों में अलग होते हुए भी ये सारे बोध एक-दूसरे से संपृक्त हैं। भाषा और साहित्य से जुड़े व्यक्तियों का इतिहासबोध अन्य से भिन्न और प्रगतिकामी होता है। इतिहासबोध से लैस व्यक्ति जातीय अस्मिता के प्रति बेहद संवेदनशील और अनुरागी होते हैं। समाज में कुछ व्यक्ति इन सारे बोधों से युक्त होते हैं। वे मिजाज से सबके साथ, किंतु पहचान में सबसे अलग होते हैं। डॉ. अमरेंद्र उन्हीं विरले लोगों में से हैं। साहित्य का उनका अस्मिता बोध विशिष्ट है और भाषा का जातीय बोध उल्लेखनीय। इतिहास के प्रति उनका दिशाबोध व्यावहारिक है।

डॉ. अमरेंद्र से मेरी जान पहचान २०वीं सदी के आखिरी दशक में हुई। दिल्ली में पढ़ाई के दौरान १९९४ में मेरी मुलाकात डॉ. मधुकर गंगाधर से हुई। उन्होंने बड़ी आत्मीयता से डॉ. अमरेंद्र और उनकी साहित्य साधना की चर्चा की। पहले पत्राचार से परिचय किया, फिर भागलपुर पहुँचने पर डॉ. अमरेंद्र से मुलाकात की। पहली भेंट ही मधुमय रही, वह छवि अब भी मेरे दिमाग में अंकित है। करीने से काढ़े केश, जिज्ञासा से भरी आँखें, सजी संवरी मूंछें। छींटदार लूंगी और भरी बाँह की कमीज। सधी आवाज और भाषा ठेठ अंगिका। आगे यह सिलसिला बाकायदा कायम रहा। कभी पत्राचार, कभी फोन, कभी मुलाकात। यह भी खूब रही कि भागलपुर रहते मैं उनके सानिध्य से दूर रहा, वहाँ से हटने के बाद करीब आया। एक संयोग और उल्लेखनीय है कि डॉ. अमरेंद्र से मेरे जुड़ाव का स्वरूप हमेशा त्रिकोणीय रहा। दिल्ली रहने तक डॉ. मधुकर गंगाधर तीसरे कोण रहे, दिल्ली से हटने के बाद जसवंत सिंह विरदी बने, अब कथाकार-चित्रकार रंजन हैं। मोहब्बत और आत्मीयता के ये रिश्ते दिल की तलहटी में स्वयमेव रौशन हैं।

जीवन के ७५ साल पूरे कर रहे डॉ. अमरेंद्र रचित पुस्तकों की संख्या उससे अधिक है। उनका अनुभव क्षेत्र विस्तृत और अवलोकन क्षमता प्रभावशाली है। मानो उठते-बैठते, चलते-फिरते, मिलते-बिछुड़ते, खाते-पीते, सोते-जागते, चर्चा-विमर्श करते वह हमेशा चौकन्ने रहते हैं। इसलिए तो मानव मन और भाव के साथ कर्मक्षेत्र के हर कोने अंतरे तक उनकी पैनी नजर दिखाई देती है। व्यक्ति, परिवार, समाज और देश-काल के अंतर्संबंध एवं अंतर्द्वंद्व को कारीगरी से कुरेदते हैं और शिद्दत से रचते हैं। विधा काव्य हो या कथा या नाटक, निबंध हो या आलोचना या फिर अनुवाद, डॉ. अमरेंद्र हर जगह पूरी क्षमता से उपस्थित हैं। उनका लेखक रूप जितना प्रखर है, संपादक रूप उतना ही सजग। हिन्दी और अंगिका दोनों भाषाओं में प्रचुर मात्रा में उन्होंने साहित्य सृजन किया है। खासकर काव्य के विविध रूपों में जिस दक्षता के साथ उन्होंने कलम चलाई है, वह उनकी सतत साधना और सुचिंतित वैचारिकी का स्वतरूप्रमाण है। गीत, नवगीत, ग़ज़ल, कविता जैसे काव्य के प्रचलित और लोकप्रिय रूपों से इतर खंड-काव्य, प्रबंध-काव्य और महाकाव्य जैसे शास्त्रीय स्वरूपों की सम्यक रचना कर डॉ. अमरेंद्र ने साधक साहित्यकार का आसन प्राप्त किया है। यह सबके वश का नहीं है। लिखना और लिखने को जीने के उद्देश्य में बदल देना बिलकुल अलग हैं। अपनी संकल्पना शक्ति और विवेचना कौशल को स्थूल से सूक्ष्म तक, धरती से आकाश तक, भूत से भविष्य तक और जड़ से चेतन तक प्रसारित किया है। एक भाव जगत के साथ तो दूसरा भाव अदृश्य लोक के साथ, एक मन मचान पर तो दूसरा मन उड़ान पर। उम्र के इस चमकदार पड़ाव पर डॉ.

अमरेंद्र की ओर देखता हूँ, तो वहाँ एक भावुक मन और संकल्पित लेखन का सुंदर संगम नज़र आता है।

लोकभाषा और लोककथा के प्रति डॉ. अमरेंद्र का प्रेम ममत्व के स्तर को छूता प्रतीत होता है। हिन्दी में लेखन के साथ साहित्य की हर विधा को उन्होंने अंगिका भाषा में दमदारी के साथ दर्ज किया। खुद भी रचा, दूसरों को भी लिखने के लिए प्रेरित किया। हिन्दी और उर्दू रचनाओं का अंगिका में अनुवाद, अंगिका की कृतियों का हिन्दी में अनुवाद कर उन्होंने उस जिम्मेदारी का भी निर्वहन किया जो अपनी लोकभाषा की समृद्धि के लिए अपेक्षित थी। अपनी समकालीन लोकभाषाओं की तुलना में अंगिका की पौराणिकताए ऐतिहासिकता और हिन्दी के विकास में उसके महत्तम अवदान को डॉ. अमरेंद्र ने अपने लेखों, संपादकीय वक्तव्यों और कृतियों में बार-बार इंगित किया है। गोष्ठी हो या निजी चर्चा, मंच हो या मैत्री विमर्श, अंगिका की अस्मिता और उसकी जातीय परंपरा का पुरजोर पक्षपोषण करते रहे हैं। अंगिका की व्यापक मान्यता और स्वीकार्यता के लिए सतत चिंतित और प्रयासरत डॉ. अमरेंद्र अपनी लोकभाषा के लिए अपरिहार्य बन गए हैं।

डॉ. अमरेंद्र के प्रशंसक बहुत हैं, उनके पाठक अनेकानेक हैं, उनसे प्रभावित सहस्त्राधिक हैं लेकिन तब भी उनका सम्यक मूल्यांकन अभी शेष है। अपेक्षा ऐसे समर्थ समालोचक की है जो उनकी कृतियों की मीमांसा कर उनके अवदान को व्यापकता के साथ सिद्ध करे। प्रमाणित करे कि डॉ. अमरेंद्र ने इतिहास पर कितने सवाल खड़े किए, वर्तमान को किस नजरिये से देखा और भविष्य पर कितना भरोसा किया। प्रचलित विमर्शों में कितना हस्तक्षेप किया और दमित-शोषित वर्ग को मुक्ति के कितने विकल्प दिए। कामना करता हूँ कि जब उनका १००वां जन्मदिन मनाया जाएगा, तब तक डॉ. अमरेंद्र का समग्र मूल्यांकन का प्रतीक्षित कार्य पूरा हो चुका होगा।

शुभेच्छाओं सहित
-सत्यकेतु, इलाहाबाद
२०/२१ दिसंबर २०२२

इसीसे बिहार की लोककलाओं और लोकभाषा के मर्मज्ञ विद्वान सुनील कुमार ने अपने फेसबुक वॉल पर कभी यह लिखा था कि :

''मैं भागलपुर के डॉक्टर अमरेंद्र को नहीं जानता। मैं ऐसे किसी डॉक्टर अमरेंद्र को नहीं जानता जो भागलपुर में रहते हैं। लेकिन हाँ, मैं एक डॉक्टर अमरेंद्र को जानता हूँ जो स्थानीयता की देहरी के पार अंगिका साहित्य में बिहार का प्रतिनिधि

ात्व करते दिखाई पड़ते हैं। अद्‌भुत है उनका रचना संसार। मैं सोचता हूँ, क्या यह संभव है एक जनम में काव्य पर, कहानी पर, उपन्यास पर, आलोचनाओं को एक साथ सिद्ध कर लेना। यह कैसे संभव हुआ होगा और कितना सटीक हुआ होगा, उसका विश्लेषण कर पाना मेरे वश की बात नहीं। अंगिका साहित्य की मुख्यधारा से जुड़े लेखक, साहित्यकार यह कार्य कर रहे हैं। मैं तो उन्हें सिर्फ इतना भर जानता हूँ कि जब भी उनसे बात होती है, उनका संबोधन बेहद आत्मीय होता है, थोड़ा रेघाए स्वर में, हां...सुनील...जी...। देश की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में, पुस्तकों में, ग्रंथों में उनकी रचनाएं मिल जाती हैं। साहित्य के समान ही कला पर पकड़, मंजूषा चित्रकला पर जब भी बात कीजिए, उनके जरिए एक नया विश्लेषण प्रत्यक्ष हो जाएगा। हर बार एक नया विश्लेषण और पहले से कहीं ज्यादा सटीक। और बस हुआ, ऐसा भी नहीं है। सोचने-रचने-लिखने का उत्स अक्षुण्ण है। बात कीजिए उनसे, तो उनके अनेक सपनों का पूरा होना बाकी है। 'अनेक' को आप डॉक्टर अमरेंद्र के लिए 'अनंत' से बदल सकते हैं। शिव कुमार शिव जी ने ठीक ही लिखा है कि इस शख्स के पास/कुछ छोटे-छोटे सपने हैं/यह भरा पूरा प्रौढ़ लेखक/कुछ सुंदर, कुछ बेहतर/गढ़ने के लिए/रहता है बेचैन....मैं सोचता हूँ, एक जीवन में कोई कितना रच सकता है। अमरेंद्र जी को आभार। उन्होंने अपनी पुस्तकें Folkartopedia फाउंडेशन को भेजीं, ताकि वह पाठकगण के लिए सुलभ हो सके। धन्यवाद सर।''

मन तो था कि इसमें कमलेश्वर, डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. कमल किशोर गोयनका, प्रो. मनमोहन मिश्र के उन पत्रों को इसमें रखूँ, लेकिन लोभ को छोड़ रही हूँ। फिर कभी!

कर्ण महाकाव्य के विद्वान आलोचक

हिन्दी के प्रख्यात आलोचक डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने जब डॉ. अमरेन्द्र के महाकाव्य के लिए सार रूप में यह कहा, कि, ''आपका 'कर्ण' काव्य मिल गया है, इसे देखने के बाद मैं कुछ बातें कहना चाह रहा हूँ, इसे सुनिए ! हिंदी में बहुत वर्षों के बाद एक सार्थक और सही पात्र पर लिखा गया महाकाव्य आया है । इस प्रबन्ध में कृष्ण की बातें नहीं हैं, अर्जुन की बातें नहीं हैं, भीष्म की बातें नहीं हैं, सिर्फ कर्ण की बातें हैं, और यह बहुत ही उल्लेखनीय बात है । फिर मुझे यह कहते हुए बहुत अच्छा लग रहा है कि कर्ण काव्य की भाषा बहुत सधी हुई है, जो इस काव्य की गरिमा को और भी स्थिर करती है ।''

तो, इस महाकाव्य की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। मुझे स्मरण है, इसी समय आलोचक डॉ. अमर सिंह वधान की बातें भी सामने आईं थीं जो उन्होंने दूरभाष पर डॉ. अमरेन्द्र से कही थीं और डॉ. अमरेन्द्र ने इसे अपने वाल पर इस तरह रखी थी, ''आज, यानी ४/७/१८ की रात, लगभग ८:२० का समय, तभी मोवाइल की घंटी बजी, अनजाने नम्बर थे, मैंने नमस्ते कहा, तो उधर से आवाज आई—में अमर सिंह वधान....मैं संभला, विश्वविद्यालय हिंदी विभाग के पूर्व आचार्य एवं विद्वान आलोचक डॉ. वधान, निश्चित रूप से चंडीगढ़ से बोल रहे होंगे और फिर अन्य किसी बात पर गए, वह लगभग दस मिण्टों तक 'कर्ण' काव्य पर बोलते रहे, क्या कुछ उन्होंने कहा, यह नहीं कहूँगा, आत्मप्रशंसा की बात हो जाएगी, लेकिन उसी क्रम में वधान जी ने कहा, ऐसी उत्कृष्ट रचना का सृजन प्रसव पीड़ा से भी अधिक वेदनादायी होता है, क्योंकि देह से संबंधित प्रसव पीड़ा तो देह की नली से निकलने के साथ ही समाप्त हो जाती है, लेकिन कालजयी कृति को सृजने में जो वेदना सहनी पड़ती है, उसका तो कोई अंत ही नहीं, क्योंकि यह वेदना मस्तिष्क

में उठती है, जहाँ से उसके निकास का कोई मार्ग नही। फिर 'कर्ण' काव्य की बात चला कर उन्होंने कहा, रचनाकार की दो संतानें होती हैं, एक जो देह से जन्मती है, दूसरी मस्तिष्क से जन्म लेने वाली कालजयी कृति। पहली संतान तो आती-जाती रहेगी, लेकिन दूसरी संतान तब तक रहेगी, जब तक धरती पर ज्ञान की भूख है, पुस्तकालय हैं, और ये दोनों चीजें कभी भी खत्म नहीं होंगी। और आखिर में अपनी बातों को खत्म करने के पूर्व यह भी कहा, अमरेन्द्र जी, यह 'कर्ण' काव्य मेरे सिरहाने में बाइविल की तरह रहेगा। यह सब मैं इसलिए लिख गया कि 'कर्ण' की रचना-प्रक्रिया में मैंने उसी असीम और अकथनीय वेदना को झेला है, जिसे अभी-अभी कुछ क्षण पहले डॉ अमर सिंह वधान कह गए हैं।'(रात्रि ११)

इसके बाद तो 'कर्ण पर समालोचनाओं की शृंखला ही बँध गई। वैसे कुछ पंक्तियों में सिमटी डॉ. कल्पना पाण्डेय की ऐसी प्रतिक्रियाएं इनके वाल पर आती ही रहीं, जैसे, ''सौन्दर्योपासक कवि जब सौंदर्य का स्रष्टा बन जाता है तब मन के भाव शब्दों के क्रम-संयोजन में आविर्भूत होने लगते हैं । अन्तस् के चाक पर घूर्णित मन भावों का स्पर्श एवं सृजन-वेदना का आनन्दाश्रु मीलित होकर एक 'काव्य-घट' बन जाता है, जिसकी जिल्द पर लिखा—''कर्ण'' । पत्रशैली में कर्ण पर लिखी गई इनकी समीक्षाएं सर्वाधिक लोकप्रिय हुईं जो मेरे द्वारा संपादित आलोचना पुस्तक 'कर्ण महाकाव्य : संवेदना और रूप शिल्प' में संकलित हैं । इनकी एक समीक्षा जो संकलन में संकलित न हो सकी थी, नीचे उदाहरण रूप में प्रस्तुत है :

कश्मीरा सिंह जिज्जी के लिए चिट्ठी....

आदरणीय बड़की जिज्जी...!
सादर नमस्ते....!

आज आपसे बात करके मन ही नहीं भरा....तभी चिट्ठी लिखने लगे...! हमें तो बातें करने में इतना आनन्द आता है कि पति-परमेश्वर गरियाते समय 'बतकूचन' और 'बतखोर' विशेषणों से ही हमें अलंकृत करते रहते हैं....! आज सबेरे से ही आकांक्षा थी कि आपसे एक मशवरा करें....कर्ण किताब की समीक्षा बेतरतीब रफ़ बिखरी हुई है, मेरे पास....! सुव्यवस्थित करके लिखने हेतु एकांत नहीं मिल पा रहा है....ऐसे में यही विचार आ रहा था कि क्यों न....प्रत्येक अध्याय से सन्दर्भित पत्र लिख दें तो आचमन में ही वृक्ष-सिंचन भी हो ही जाएगा....! यह पत्र के रूप में प्रस्तुत समीक्षा को महाकाव्य के आरंभिक अवबोध हेतु विद्यार्थी संस्करण ही समझिए....! फिर यदि समय सुयोग हुआ तो "स्कॉलर-एडीशन" लिखते रहेंगे...! पत्र लिखने में बस किसी तरह थोड़ा-सा हासिए वाला समय ही अपेक्षित होता है,

अतः इस शैली में कार्य को गति मिलने की सम्भावना बन रही है...! यह पत्र-लेखन दिन भर की थकान हर लेता है, जबकि पुस्तक-लेखन हेतु अध्याय आरम्भ के चिंतन भर की भी ऊर्जा अवशिष्ट नहीं रह जाती है.... गृहस्थी थकाऊ व्यापार है....न!

खैर....कर्ण महाकाव्य के पहले सर्ग में वात्सल्य की संवेदनशीलता का सूक्ष्म चित्रण और दूसरे सर्ग में पितृत्व के दायित्व की व्यापकता का रेखांकन हुआ है। अब सच्चाई यह है.... जिज्जी! कि किसी को भी सही राह सुझाओ, तो वह बिदक जाएगा....यदि किसी दबाववश बात मान भी ले, तो यह स्वीकरण सतही ही रहेगा....! ऐसे में साहित्य के दर्पण में अतीत के समाज के तिमिर को आलोकित करके कवि अमरेंद्र आज के समाज को नई दिशा दिए जा रहे हैं। हजारों वर्ष पूर्व की इस कथा के मर्म में चुम्बकीय आकर्षण है, जो भावक के चित्त में पैठकर सही राह की ओर उन्मुख कर सकता है। साहित्य के प्रयोजन में आचार्यों ने स्वीकार किया है कि काव्य अभिजात वर्ग को लोकव्यवहार सिखाने वाला होता है। कर्ण महाकाव्य में आचार्यों का सिद्धांत फलित हुआ है। इतिहास के इस आईने में भविष्य का उज्ज्वल चित्र दर्शित है।

जिज्जी....! कर्ण महाकाव्य का तृतीय सर्ग "बीज पर्व" के नाम से अभिहित है। लोक-मर्यादा की रक्षा करते हुए पितृत्व-दायित्व का निर्वहन इस सर्ग का सार है। आधी रात के चित्रण में कवि मन हवाओं को 'जड़' कह जाता है..! प्राणदायिनी हवाओं की जड़ता चुगलखोरी न कर सकेग...! हरहराती नदियों की चुप्पी में सभी रहस्य समा जाएंगे....! प्रकृति का मानवीकरण करते हुए कवि ने प्रकृति को मनुष्य का अनन्य सहयोगी.... उपकारक बना दिया है।

''शांत वन हैं, जड़ हवाएं सरसरातीं,
चुप है चानन और गंगा, हरहरातीं।

ऐसी मध्य निशा में कर्ण विद्या का सन्धान करता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा भी है कि जो सभी भूतों के लिए रात्रि है, उसमें संयमी पुरुष जागता है। कर्ण का जीवन गीता के ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष है। रात्रि के चित्रण में कवि प्रकृति के मानवीकरण में नवीनता का सन्धान करते हैं, जिससे लोकोत्तर चमत्कार स्फुटित हो जाता है। कवि दृष्टि अखण्ड कालशक्ति का अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण करती है...., 'रात्रि की मध्य बेला का जगना' विलक्षण चमत्कार है प्रकृति का... न!

''जागती जब रात की थी मध्य बेला,
कर्ण वन को जा निकलता था अकेला—
तीर, तरकश, धनुष, कंधों पर उठाए,
तेज गति से ज्यों कोई वन से बुलाए।

अब जिज्जी....देखिए न....इस प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। दृढ़ संकल्प के विस्तार में लोकाचार संकुचित हो जाता है और सुषुप्त रह जाता है....! तभी तो जागता है गहन वन में कर्ण-कौशल, ऐसे अद्भुत दायित्व-निर्वहन की गवाही प्राकृतिक उपादान ही देते रहते हैं चिरकाल तक....! प्राकृतिक अवयवों की सहभागिता में कर्ण विद्या-अभ्यास करता है....! प्रकृति के सान्निध्य में कभी अकेलेपन का बोध अंकुरित ही नहीं हो सकता.... क्योंकि रास्ते भर आशीष देती थीं हवाएं, जिज्जी....ऐसे प्रसंगों के नियोजन का भावबोध करें तो आत्मीयता का विस्तार मिलने लगता है....! जहाँ आकाश की छाँव में निर्भयता का मर्म है। प्रकृति के इस साहचर्य में ही तो समझ परिपक्व होती है, परिपक्व होना ही अमरता है.... न! पिता एक कठोर कवच है, इसी कठोर कवच में बढ़ते बच्चे का व्यक्तित्व तराशा जाता है। माता-पिता ही प्रथम शिक्षक हैं...! सच कहें जिज्जी तो कर्ण के चरित्र-आख्यान के बहाने से कवि ने परिवार के दायित्वों की संरचनात्मक कसीदाकारी की है। धनुर्वेद के इस अभ्यास में कर्ण को निष्णात होते देख उत्फुल्ल पिता के भाव कवि ने कुछ इस प्रकार पिरोए हैं....

और क्षण-क्षण वाह के आशीष खुलकर,
पत्थरों के बीच बहता हो, ज्यों निर्झर।

विद्या के इस अभ्यास में झपकी लेते हुए कर्ण को सूर्य मातृभूमि अंगप्रदेश की महिमा बताते हुए उत्प्रेरित करते हैं, तो नींद खुल जाती है। इसी बहाने अंगपुत्र कवि अमरेंद्र ने मातृभूमि की महत्ता का गान किया है। अनेक ऋषियों के तप उज्ज्वल अंगप्रदेश कवि के लिए स्वर्गेतर दिव्यलोक है। कुछ ही पंक्तियों में इतिहास की कई परतें खुल गईं हैं। अंगभूमि, श्रृंगी, विभांडक, जह्नु, अष्टावक्र, राम, गाधिसुत (विश्वामित्र), दुर्वासा के संस्पर्श से आलोकित.... सुवासित.... है। कालजयी इतिहास-पुरुष का स्मरण प्रेरणादायक होता ही है न....! उत्साह जगाने की यही अचूक औषधि है....न! कर्ण को शारीरिक रूप से मजबूत बनाते पिता सूर्य.... पुत्र की मानसिक मजबूती के लिए इसी कथा-क्रम में मातृत्व का सत्य अनावृत कर जाते हैं....! जीवन का गोपनीय रहस्य यदि अपनों से ही ज्ञात हो जाए, तो दृढ़ बनाता है, जबकि यही सत्य यदि सर्वप्रथम किसी गैर के मुख से ज्ञात हो, तो चूर-चूर कर देता है। इतिहास की महत्ता इसी में है कि उसे बार-बार दोहराकर वर्तमान को नीतिनिपुण बनाया जा सके। सूर्य कर्ण से कहते हैं कि—

''माँ तुम्हारी तो पृथा ही, सत्य मानो,
और जिसको माँ कहो, वह धाय जानो!''

पुरुषों के दलित हृदय को कोई नहीं देखता...महसूसता....! विमर्श के दौर

में भी मानवीय विमर्श तक क्रांतिकारी पहुँच ही नहीं पाते....कहीं स्त्रीविमर्श, कहीं दलितविमर्श, कहीं अल्पसंख्यक विमर्श, कहीं बालसंरक्षण, तो कहीं बुजुर्गों के अधिकार पर बयार धधकती रहती है। ऐसे में एक भावुक कवि....एक पुरुष की बेबसी लिख जाता है....

मन कहे, कौन्तेय तुमको कह न पाता,
बस मुझे राधेय पर है खींच लाता।
हो रही होगी भी कुन्ती कम दुखी क्या,
इस जगत में देवता भी हैं सुखी क्या!''

पितृत्व की बेबसी सूर्य को दार्शनिक बना देती है, यह जगत दुःखमय ही है....! बौद्ध और सांख्य दर्शन की प्रतिष्ठापना भी इन्हीं जागतिक दुःखों की स्वीकृति से लेकर इनकी निःसृति पर ही अवलम्बित है। पितृसत्तात्मक समाज पुरुष को शोषक के रूप में....बस अधूरा ही जानता है। कुन्ती के अंतर्मन की थाह लेने वाले सूर्य....और इस वृतांत के प्रणेता कवि अमरेंद्र पूर्ण मनुज हैं....! जिनमें पुरुषत्व की प्रखरता और स्त्रियोचित भावसबलता का समन्वय दिखता है। ऐसा नहीं है कि मानवीय इकाई में पुरुष संवेदनशून्य है और स्त्री संवेदनशील है, संवेदना मनुष्यता का आत्मिक गुण है....स्त्री हो अथवा पुरुष...किसमें....कितने स्तर तक संवेदनाएं उभरती हैं, यह परिस्थितिजन्य भी है और उस मनुज-पिण्ड की पात्रता पर भी निर्भर करता है....! कुन्तीभोज राजा की दुहिता लोक में कुन्ती के नाम से जानी जाती हैं। पुत्रियां भी पिता के कुल-नाम को आगे बढ़ाती हैं.... वंशबेलि पुत्रों पर आश्रित भले ही हो.... यत्र-तत्र...और विवाहोपरांत नए प्रान्त में पिता के नाम की वाहिका पुत्रियां भी बनती हैं....! इतिहास की सकारात्मक व्याख्या बहुत कम हुई है....न जिज्जी!

देखिए.... कश्मीरा जिज्जी, हम आपको बोर नहीं कर रहे हैं.... बल्कि एक काव्यकृति के कसीदे की नुमाइश भर करने की कोशिश कर रहे हैं....! पुत्र-मोह में बंधे पिता सूर्य....कर्ण को जल में कमल के पत्ते की तरह निर्लिप्त भाव से जीवन जीने का हुनर सिखाते हैं....! विलासात्मकता का बखान व्यक्तित्व को ओछा बना देता है....न जिज्जी! तभी तो नैतिकता का पाठ पढ़ाते हुए सूर्य कहते हैं कि–

''तुम सिंहासन पर रहो सन्यासी-सा ही।
अंग के अनुकूल सारे आचरण हो
इस धरा पर स्वर्ग का फिर संचरण हो।''

मातृभूमि के रत्नपुरुषों का बोध कराकर.....जन्मदात्री का रहस्य बताकर ....नैतिकता का पाठ पढ़ाकर....एक पिता अपने पुत्र को पूर्णरूप से आत्मनिर्भर बना देता है। आत्मनिर्भरता मात्र आर्थिक ही नहीं होती है, भावनात्मक और नैतिक

आत्मनिर्भरता आर्थिक उपलब्धियों से श्रेष्ठ है। एक पिता की तुष्टि इन पंक्तियों में दिखती है—

'सारी विद्याओं-कलाओं से भरे तुम,
अब रहोगे क्या किसी के आसरे तुम

प्राचीन शस्त्र विद्या के विविध प्रकार कवि ने कर्ण की दक्षता के प्रसंग में वर्णित किया है, इससे प्राचीन सैन्यविज्ञान की समृद्धि का सहज बोध हो ही जाता है....न! अब देखिए छंदों में आबद्ध पंक्तियां कितने शस्त्रों को संभाले हुए हैं, जिनमें प्रमुख हैं....शूल, शतघ्नी, हस्तिवारक, प्राश, प्राशिका, हाटक, कुन्त, कणय, तोमर, गदा-संपृक्तला, मुद्गर, धनुष, ताल, सारंग, दारव, विविध नए चाप, कार्मुक, कोदण्ड, द्रुण, वेणु, नाराच। इतने प्रकार की विद्याओं वाला वैभवशाली इतिहास है हमारा....! मात्र गीता के ज्ञान और युद्ध तक ही सीमित नहीं है—व्यास विरचित जयगाथा....!

कवि अमरेंद्र ने इतिहास के अंधकार में प्रज्ञा के दीप जलाकर भावों को साध लिया है, यह भाव-साधना कर्ण के माध्यम से मनुष्यता को जगा देने में पूर्ण समर्थ है...

''ब्रह्म के ही तेज से सम्पन्न हो तुम,
ब्रह्म के ही तेज से उत्पन्न हो तुम''

मनुष्य उस विराट का अंश है, उस विराट की तात्त्विकता मनुष्य में भरी हुई है, बस कर्मों से....विवेक से.....आत्मविस्तार हेतु तत्पर रहना ही जीवन-व्यापार है। सूर्य कर्ण को आचरण की नैतिकता का विस्तार समझाते हैं....! माँ बच्चे को गीले से सूखे में सुलाकर सुकून पाती है....और पिता बच्चे की जीवन-यात्रा को सुखमय बनाकर तुष्टि पाता है। जीवन का उद्देश्य अपनी श्रेष्ठता का लोककल्याण हेतु अनवरत व्यय करते रहना ही है। पिता अपनी श्रेष्ठता से पुत्र को अभिसिंचित करके स्वयं रीता रह जाता है। सूर्य कहते हैं,

''वह जो सबसे दीन है और दलित है जो,
पर सुकर्मों से सुधामय ललित है जो;
उसकी रक्षा में तुम्हारे प्राण अर्पित,
जो मुझे था, कर दिया सारा समर्पित।''

अंगपुत्र डॉ. अमरेंद्र प्रकृति के उपासक हैं....अगली पीढ़ी को "नेचर-लिटरेसी" सिखाते हुए लिखते हैं कि—

''भूमि, वन, नदियाँ, हवाएं सुख से सिहरे,
आज से न प्राणियों के प्राण हहरे

लोक-प्रतिबंधित पिता से इस रहस्यमय गोपित ज्ञान को पाकर कर्ण की शिक्षा का आरम्भिक सोपान दृढ़ हो जाता है। बालक कर्ण के लिए दिव्य पुरुष द्वारा प्रणीत यह विद्या अविश्वसनीय प्रतीत होती है, वह सोचता है कि, क्या पिता ही थे, अभी उतरे गगन से.....रश्मियों के देवता का अंश हूँ मैं इस धरा पर देवकुल का वंश हूँ मैं,

इस सर्ग में ज्ञान और रहस्य का बीज-वपन हुआ है। इसी बीजांकुर से पूर्व कर्ण के अंतर्मन में अनेक प्रश्नोत्तर चलते रहते हैं। वह कभी कुन्ती को अनुभूत करता है,

जो नहीं माता पृथा, तो क्यों लगा यह,
देह को सहला रही हो कोई रह-रह!

कर्ण इस गुप्तविद्या में मिले पितृत्व के एहसास को संजोए रहता है....

पक्ष बीते, माह बीते, और वत्सर,
आज भी यह बोध उनके हाथ सर पर।

अब कश्मीरा जिज्जी, हमको तो यही लगता है, इस "बीज पर्व" में स्नेह, आत्मीयता, ज्ञान, रहस्य, यथार्थ सबका बीज कर्ण के अन्तस् में अंकुरित हुआ है। सत्य और स्वप्न के द्वंद्व में दोलायमान बालक दृढ़ हो जाता है कि....

यह नहीं भ्रम, सत्य है, कुछ और ऊपर,
देवता थे, आए थे बन तात भू पर।

इन पंक्तियों में 'पितृ देव भव' चरितार्थ हो गया है...न! द्विधा में उलझा बालक मोह-मुक्त होने के लिए जन्मदाता सूर्य और कुन्ती के चिंतन से विलग हो जाता है....एक सच को जानते हुए भी दूसरे सच को मान लेता है,

मैं तो हूँ राधेय, अधिरथपुत्र हूँ मैं,
बस इसी पहचान से सर्वत्र हूँ मैं।

जो प्रत्यक्ष हो, उसे ही स्वीकार लेना श्रेय का वरण है न....जिज्जी! कवि ने कर्ण के जीवन में जो रहस्यवाद का पट बुना है, वह वेद ऋचा की याद दिलाता है....! 'कस्मै देवाय हविषां विधेम' यह जो 'कस्मै' शब्द है....यही आत्मिक सूत्र कर्ण को भी बांधे हुए है....! यादें भी....कभी दामन नहीं छोड़तीं....इसी प्रसंग में कर्ण का अंतर्मन देखिए,

और आईं यादें सब बातें विगत की
जेठ के दिन और वे रातें शरत की
मन में उठते मेघ काले, बिजलियाँ ले,
फिर तुरत मधुमास आता तितलियां ले,

गूँजता यह मन; हृदय किस शोर से है।
बँध गया-सा कर्ण किसकी डोर से है,

अच्छा....जिज्जी, एक बात सही बताइए....ई चिट्ठी नीक लगी कि नहीं ...और अब हम ऐसे ही लिखते रहें कि नहीं...आपके जवाब की प्रतीक्षा करेंगे...! आपके यहाँ से कलकत्ता दूर नहीं है.... कभी चली आइए मिल जाइए....! हम भी कमाऊ जिज्जी का सुख लूट लें जी भरकर....! अपना ख़याल रखिएगा....बरखा में मच्छर से बचिएगा....और प्रदूषित पानी का बराव कीजिएगा....! सलाद खाना एकदम बंद करिए इस पावस में....! मेढक टर्राएं तो समझ जाइए कि ये बादलों को ही बुला रहे हैं....! मेघ और मेढक शब्द अन्तर्सम्बन्धित हैं....कभी भाषिक विश्लेषण पर गप्प किया जाएगा....! जवाबी चिट्ठी के साथ ही आपको भी अगोरने में दुआर पर खड़ी

आपकी छोटकी बहिन
डॉ. कल्पना दीक्षित

दुर्भाग्य यह रहा कि डॉ अमरेन्द्र के वाल पर पड़ी बातों को मैं रख नहीं पाई। बाद में सोशल मीडिया पर न जाने कितनी-कितनी समीक्षाएं निरंतर आती रहीं, जिनमें डॉ. बहादुर मिश्र, डॉ. सकलदेव शर्मा, डॉ कल्पना पाण्डेय, अविनाश कुमार सिंह, डॉ. किशोर सिन्हा, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, शिव कुमार शिव, अनिरुद्ध प्रसाद विमल, कश्मीरा सिंह, डॉ. मृदुला शुक्ला, रंजन कुमार, डॉ. सुशीला ओझा, डॉ. रणजीत कुमार सिन्हा, कुमार कृष्णन, प्रसून लतांत, अनिल कुमार झा, मुकेश दुबे, अमन सिन्हा के नाम आगे आते हैं।

लेख के रूप में, किस्सा पत्रिका के सम्पादक, कथाकार शिव कुमार शिव ने अपनी पत्रिका में कर्ण काव्य पर एक लंबी समीक्षा प्रकाशित की थी जो बाद में लीलाधर मंडलोई, चंद्रकला त्रिपाठी, कृपाशंकर चौबे, राकेश तिवारी द्वारा संपादित 'शिव कुमार शिव' रचनावली भाग ४ में पृ. २३७ से २६० तक में है । कथाकार शिव की समीक्षा 'कर्ण महाकाव्य : संवेदना और रूप-शिल्प' के प्रकाशन के बाद 'किस्सा' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

लेकिन कर्ण महाकाव्य पर समीक्षा आलेखों या पुस्तकों का आना यहीं नहीं रुका । बाद में विदूषी कथालेखिका और कवयित्री कश्मीरा सिंह ने इस महाकाव्य पर एक स्वतंत्र समीक्षा पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक है: 'कर्ण महाकाव्य का अन्तर्लोक'—इस आलोचना पुस्तक में आलोचक ने काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तर्लोक का उद्घाटन बड़ी गंभीरता के साथ किया है। दो सौ बहत्तर पृष्ठों में फैली

यह पुस्तक निस्सन्देह कर्ण महाकाव्य के अन्तर में प्रवेश लिए एक प्रशस्त और सुगम मार्ग तैयार करती है । पुस्तक के अंत में कर्ण काव्य में आये छंदों के संबंध में एक छोटी-सी जानकारी भी प्रस्तुत की गई है, और कश्मीरा जी द्वारा कर्ण पर रची गई एक छोटी-सी कविता भी है, जो महाकाव्य के रस-रसायन के रूप में आई है ।

'कर्ण महाकाव्य : भाव, भाषा और विधान' डॉ. शतदल मंजरी की बहुचर्चित आलोचना पुस्तक है, जिसका प्रकाशन समीक्षा प्रकाशन दिल्ली के द्वारा हुआ है । इस पुस्तक में भी आलोचक डॉ. मंजरी ने महाकाव्य के सभी सर्गों के केन्द्रीय भाव सौन्दर्य पर विचार करने के अतिरिक्त कर्ण काव्य के उद्देश्य, नामकरण की सार्थकता, प्रमुख पात्रों के चरित्र, पात्रों के संवाद, युद्ध-वर्णन तथा प्रस्तुत महाकाव्य की भाषा-शैली पर विस्तार से विचार किया है, अच्छा होता कि अगर डॉ. मंजरी जी ने इस पुस्तक लेखन के बीच के आये अपने उन अनुभवों को भी लिख दिया होता, जो उन्होंने इस आलोचना पुस्तक के लोकार्पण के दिन उपस्थित विद्वानों के बीच कही थी, कि उन्होंने कहा था—कर्ण महाकाव्य के रसानन्द को मैंने तो तभी जाना था कि पढ़ते-पढ़ते जब मैं पाँचवे-छठे सर्ग पर होती और किसी बात को फिर जानने के लिए पूर्व के किसी सर्ग पर जाती तो वहीं से फिर पढ़े पाठ तक....पढ़ती चली जाती....

'कर्ण' महाकाव्य की यही विशेषता है, जो पाठकों का इसे कंठहार बनाती है। अभी हाल में ही इस महाकाव्य को पढ़ कर पंडितों के प्रदेश दरभंगा के एक विद्वान ने आलोचक अविनाश कुमार सिंह को लिखा था :

'डॉ. अमरेन्द्र कृत 'कर्ण' महाकाव्य को सांगोपांग पढ़ा। जब से नई कविताओं की बाढ़ आई, मैंने कविता पढ़ना छोड़ दिया था। कुछ माह पहले प्रियवर अविनाश कुमार सिंह 'अमेय' के सौजन्य से 'कर्ण' महाकाव्य प्राप्त हुआ था। पहले तो मैंने इसकी उपेक्षा करते हुए अपनी आलमारी में रख दिया था। पर हफ्ते भर पहले इसे एक बार देखने के लिए उठाया तो फिर अंतिम पृष्ठ तक पहुँच कर ही रुक पाया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहानए, रामधारी सिंह दिनकर इत्यादि महाकवियों को पढ़ने की अभ्यस्त हो चुकी मेरी आँखों ने एक अरसे के बाद वही ताजगी महसूस की। मुझे गर्व है कि सच्ची कविता की वह परम्परा अब भी जीवित है। मैं आह्लादित हूँ कि इस पुनीत परम्परा के वाहक डॉ. अमरेन्द्र इस पुण्यभूमि बिहार की मिट्टी के सुपुत्र हैं। जो आनन्द मुझे तुलसी की 'रामचरितमानस' पढ़ते हुए या मैथिलीशरण गुप्त की 'साकेत' पढ़ते हुए आता है, वही आनन्द 'कर्ण' महाकाव्य को पढ़ते हुए प्राप्त हुआ है। इस सुंदर कृति हेतु मैं डॉ. अमरेन्द्र को साधुवाद देता हूँ और उनके प्रति

अपनी श्रद्धा निवेदित करता हूँ।

बाबू गोपाल शरण सिंह
घोषरामा, हायाघाट, दरभंगा

यह अकारण नहीं, कि मनोरमा इयर बुक २०१६ में इस महाकाव्य को वर्ष के प्रमुख काव्य पुस्तकों में इसे शामिल किया गया जिसके पृष्ठ ११४-११६ में यह लिखा गया है,

''तेईस सर्गों में विभक्त इस प्रबंध काव्य में उन सभी गुणों का परिणाक है जिनके आधार पर कोई कृति उच्च कोटि के महाकाव्य पद की अधिकारिणी होती है। इस कृति में प्रायः सभी रसों का परिपाक, अलंकारों का वैभव, उपमानों का भंडार, शैली की प्रौढ़ता सहित श्रेष्ठ काव्य की सभी विशेषताएं अपने सर्वोत्तम स्वरूप में प्रकट हुई हैं। अब तक कर्ण पर उपलब्ध सभी आख्यानों और लोककथाओं का इस कृति में सुन्दर समन्वय हुआ है। व्यतिक्रम का कोई स्थान नहीं; भाषा की प्रौढ़ता, वाणी की उदात्तता, अर्थ की गंभीरता और पद लालित्य का अद्भुत समन्वय है, यह कर्ण महाकाव्य। निःसंदेह यह हिन्दी साहित्य की अद्वितीय कृत्ति है, जिसमें आदि से अंत तक डॉ. अमरेन्द्र की काव्यात्मक प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट प्रदर्शन हुआ है।

कर्ण का प्रेरणास्त्रोत

भागलपुर प्रवास के दौरान एक साक्षात्कार के क्रम में मैंने जब डॉ. अमरेन्द्र से यह जानना चाहा कि इस महाकाव्य-सृजन के पीछे कौन-सी प्रेरणा का बल रहा है, तो उन्होंने बिना विलंब किए उत्तर दिया—जब तेज नारायण बनैली महाविद्यालय में नामांकन हो गया, तो क्लास करने की जगह मैं चंपा के उस विस्तृत ढूह पर जाकर घंटो बैठ जाता जिसके संबंध में लोकमान्यता है कि यह कर्ण का गढ़ रहा था। बाद में इसके हिस्से की खुदाई हुई, तो ढूह के पेट से गढ़ के विशाल-विशाल स्तंभ निकल आये। खैर मैं कह रहा था कि क्लास में होने की जगह ढूह पर चला जाता। क्या कहें, कैसे-कैसे ख्याल मन में बाज पक्षी की तरह उड़ान भरने लगते थे। बाद में मैंने अंगनरेश कर्ण के बारे में ऐसी अनेक लोककथाएं सुनीं, तो अति प्राचीन भारत के उस महानायक के बारे में जानने के लिए महाभारत के पन्नों में उसे खोजना शुरू किया लेकिन यह देखकर कि मैंने लोक में कर्ण से संबंधित जो कई कथाएं सुनी हैं, पढ़ी हैं, वे महाभारत में क्यों नहीं हैं। जो हैं, वे इस महानायक के उदात्त चरित्र को धूमिल ही ज्यादा करती हैं और इसके साथ यह प्रश्न भी और बेचैन करता था कि पुराण का यह महानायक अगर धीरोदात्त नहीं, उद्धत है, तो ऐसे चरित्र के नाम पर एक स्वतंत्र पर्व-सृजन की जरूरत क्यों महाभारतकार को पड़ी ? यह प्रश्न मन में उठते ही मेरे मन में तुरत यह ख्याल आता कि कहीं-न-कहीं इस महानायक के उदात्त चरित्र को हीन दिखाने के लिए यह बाद की कोशिश है जो धीरे-धीरे लोकमानस में वह इस तरह बैठती-धँसती चली गई कि महाभारत का यह महानायक एक खलनायक बन कर रह गया। मुझे स्मरण है, मैं स्नातकोत्तर की परीक्षा देने जाता, तो घंटे भर पहले उस ढूह पर जाकर बैठ जाता जो टीलाकोठी के नाम से भी विख्यात है। कहते हैं, यह टीला कर्ण के मुख्य किला की दीवार का वह स्तंभ था, जहाँ से

शत्रुओं पर आँखें रखी जाती थीं। दुर्ग के उत्तर-पूर्व बहती गंगा की मुख्य विस्तृत धारा। उसे देखता, तो इतिहास-पुराण का कर्ण सामने खड़ा हो जाता।

उन्हीं दिनों की बातें एक बार फिर मेरे मानस में उभरने लगीं, जब मैं बाँका, बौंसी के नवस्थापित एक कस्बाई महाविद्यालय का शिक्षक बना। यह बात उन्नीस सौ सत्तर-इकहत्तर की है। हिन्दी शिक्षक होने के नाते मुझे रामधारी सिंह दिनकर की कृति रश्मिरथी को पढ़ाना ही था, मेरे मन की मांग भी थी। लेकिन मैं आपको बताऊँ कि इस प्रबंध कृति ने मुझे बहुत संतुष्ट किया हो, ऐसी बात नहीं। मेरी इस बात से यह समझने की कोशिश व्यर्थ होगी कि मैं इस प्रबंध काव्य के लक्ष्य या रचनाकौशल पर किसी तरह का प्रश्न उठा रहा हूँ। मैं आपको सिर्फ यह बताना चाहता हूँ कि मैं इस प्रबंध में कर्ण के धीरोदात्त व्यक्तित्व को देखना चाहता था, वह मिल कर भी नहीं मिला। इसमें कृष्ण का विराट रूप तो है लेकिन कर्ण के उस व्यक्तित्व की खोज यहाँ भी नहीं है जिसे मैं देखना चाहता था । इन बातों से अलग मुझे और ऐसी कई अनेक बातें लगातार मथती रहतीं कि अंग देश के महानायक कर्ण को आखिर उसके देश-काल से अलग कर के क्यों चित्रित किया जाता है? न महाभारत में अंग का भूगोल चित्रित है, न उसके परिवार का, न उसके जीवन के विभिन्न कालखंडों का। बस ये पुच्छल तारे की तरह उगते हैं, चमकते हैं, बिखर जाते हैं। और सच पूछिए, तो इन्हीं जिज्ञासाओं ने मुझे कर्ण के जीवन पर कुछ लिखने को विवश किया। उस परम वीर नायक से संबंधित सारी कथाओं को संकलित करना शुरू किया, महाभारत को फिर से पढ़ा, कर्ण के चरित्र पर लगे आक्षेपों में डूबा-उतराया, अनसुलझे सवालों को सुलझाने की कोशिश करता रहा। सच तो यही है कि मैं इस महानायक पर लिखे काव्यों में महाभारत और रश्मिरथी को छोड़कर किसी अन्य कृति को पढ़ा भी नहीं था। मेरे सामने कर्ण पर लगे आक्षेपों का जलता पहाड़ था और उसी से जुड़ी लोककथाओं का वह घायादार जंगल भी, जिसे जला पाना किसी भी आग के लिए मुश्किल था। फिर क्या था, एक रात मै कर्ण की छवि कागज पर उतारने बैठ गया, न्याय-अन्याय के पक्ष-विपक्ष पर फैसला सुनाने। छंदों में शंकाओं के समाधान लिपिबद्ध होते गये। तब मैं था और मेरे हर सवालों का जवाब देता मेरे सामने कर्ण, उसका देश, उसका काल, उसका पूरा परिवार और एक दिन देखा कि शंकाओं के समाधान में एक प्रबंध का ही सृजन हो गया है।

डॉ. अमरेन्द्र की बातों को भरसक मैंने उन्हीं की भाषा में यहाँ रखने की कोशिश की है, जो कर्ण महाकाव्य के सृजन की पृष्ठभूमि को असंदिग्ध रूप से उजागर करती हैं।

महाकाव्य के लक्षण और कर्ण महाकाव्य

भारतीय आचार्यों द्वारा महाकाव्य के जो लक्षण गिनाए गए हैं, उन सब को एकत्रित कर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रबन्ध का कथानक इतिहास प्रसिद्ध या कथा से उद्भूत हो, जिसका चरित नायक उच्च वंश का हो और सभी उदात्त गुणों से सम्पन्न हो, जिसका उद्देश्य चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति हो, जो भावों, रसों से भरा हुआ अलंकृत शैली में निर्मित हो, जो सर्गबद्ध हो, पंचसंधियों से युक्त वृहत्ताकार हो, और जो कई प्रमुख, अप्रमुख काव्य रुढ़ियों से भी युक्त हो—वह महाकाव्य है। आचार्य भामह (पाँचवी शताब्दी), आचार्य दण्डी, (छठी शताब्दी), आचार्य रुद्रट (सातवीं शताब्दी), आचार्य विश्वनाथ (बारहवीं शताब्दी) की महाकाव्य संबंधी धारणाओं में कहीं-कहीं अन्तर या अन्तराभास अवश्य है, लेकिन सभी की धारणाएँ लगभग एक समान हैं, क्योंकि इन धारणाओं की पृष्ठभूमि में संस्कृत में रचे गये महाकाव्य ही रहे हैं, जो महाकाव्य कथारुढ़ियों का लगभग समान रूप से पालन करते रहे हैं।

भारतीय आचार्यों ने जिन लक्षणों के आधार पर महाकाव्य को परिभाषित करने की कोशिश की है, यही बात पाश्चात्य विद्वानों के संबंध में नहीं कहीं जा सकती। अरस्तू तो महाकाव्य के संबंध में सिर्फ इतना कह कर मौन रह गये हैं कि महाकाव्य उच्चतर चरित्रों का समाख्यानक काव्य है जिसमें एक छन्द का ही प्रयोग होता है।

डॉ. श्वेता राती ने अपनी पुस्तक 'डॉ. अमरेन्द्र : साहित्य और समीक्षा' में महाकाव्य से संबंधित विद्वानों के विचार को उद्धुत करते हुए लिखा है कि महाकाव्य के लक्षणों की भी कोई सीमा नहीं मिलती, इसी कारण इसकी परिभाषाएँ भी कम नहीं हैं। 'दि बुक ऑफ एपिक' के लेखक ने ठीक ही लिखा है कि ''संसार में जितने राष्ट्र और जितने कवि हैं, महाकाव्य की सचमुच उतनी ही परिभाषाएँ हैं,

और महाकाव्य रचना के उतने ही नियम हैं।''

दरअसल महाकाव्य का एक निश्चित उद्देश्य होता है, जो उसे अपनी गति में बहाता जाता हे, और इसी की प्राप्ति में महाकाव्य की सफलता छिपी रहती थी। यहाँ स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तक वाल्टेयर की महाकाव्य संबंधी धारणा को रखना बहुत ठीक होगा, जिसे महाकाव्य की सबसे अधिक व्यापक और समीचीन परिभाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। वाल्टेयर के अनुसार, ''ऐसे काव्यग्रंथ ही महाकाव्य नाम के अधिकारी हैं, जिनमें किसी महती घटना का वर्णन होता है और जिन्हें समाज व्यवहारतः महाकाव्य मानने लगते हैं। चाहे उसकी घटना सरल हो या जटिल, चाहे एक स्थान पर घटित होने वाली हो या उसका नायक संसार भर में भटकता फिरे, चाहे उसमें एक नायक हो या अनेक, चाहे उसका नायक अभागा हो या सौभाग्यशाली, भयंकर क्रोधी हो या धर्मात्मा, चाहे वह राजा हो या सेनापति या इनमें से कुछ भी न हो, चाहे उसके दृश्य महासागर के हों या धरती के, स्वर्ग के हों या नरक के, इससे कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। इसके बावजूद कोई मान्य महाकाव्य तबतक महाकाव्य कहा जाता रहेगा, जबतक आप उसके गुणों के अनुरूप उसका कुछ और नामकरण नहीं कर देते।

इससे तो यही अर्थ निकलता है कि महाकाव्य के लिए कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती, न उसके निर्धारित लक्षण ही हो सकते हैं। महाकाव्य अपने उन विशिष्ट गुणों के कारण महाकाव्य होते हैं, जिन्हें सहृदय अपनी सहज बुद्धि से स्वीकृति देते हैं। लेकिन सबकुछ के बावजूद इतना तो कहा ही जायेगा कि महाकाव्य का व्यक्तित्व महान संत सा होता है, जिसकी अभिव्यक्ति भी निस्संदेह महान शैली में ही होती है, भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य का उद्देश्य चतुर्वर्ग के किसी एक फल की प्राप्ति माना है।

जहाँ तक डॉ. अमरेन्द्र के महाकाव्य 'कर्ण' के महाकाव्यत्व की बात है, इसे ठीक से समझने के लिए मैं कर्ण काव्य के विद्वान आलोचक अविनाश कुमार सिंह के पूर्व प्रकाशित आलेख को पुनः यहाँ प्रस्तुत करना चाहूँगी, जो मेरे द्वारा संपादित 'कर्ण महाकसव्य : संवेदना और रूप-शिल्प' में भी संकलित है :

हिन्दी साहित्य में कर्ण-काव्य परम्परा में डॉ. अमरेन्द्र कृत 'कर्ण' महाकाव्य का स्थान

केशव, जब तक श्रेष्ठ वंश का अहंकार जग ढोए,
जब तक दीन-दुखी का मन भी इस धरती पर रोए,

राज्यसुखों की खातिर जब धरती के रोम जलेंगे,
वहाँ-वहाँ पर एक कर्ण क्या, सौ-सौ कर्ण मिलेंगे।

(कर्ण : डॉ. अमरेन्द्र, सर्ग-२२)

हिन्दी साहित्य के इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि आधुनिक हिन्दी काव्य में पौराणिक कथाओं के नूतन अभिव्यक्तिमूलक प्रयोगों का समारम्भ द्विवेदी युग (१६००-१६१८ ई.) से होता है। इन प्रबन्धकाव्य ग्रन्थों की सामग्री में नवीनता मात्र कथा-संयोजन एवं प्रसंग-चयन में ही नहीं है, अपितु कथा की मूल आत्मा में भी है, उसे देखने-समझने की दृष्टि में भी है। इनमें प्राचीन कथाओं की नई तार्किक व्याख्या, अलौकिकता का ह्रास तथा मूल कथाओं के संग-संग अनेक पुराणेतर सामयिक तत्वों व लोककथाओं के समावेश ने कथा के पारम्परिक ढांचे को परिवर्तित किया। नवीन विचारधारा और भावधारा की वाहक बन कर इन काव्य-ग्रन्थों ने आधुनिक हिन्दी काव्य को समृद्ध तो किया ही, साथ ही पौराणिक कथाओं और उसके पात्रों के मूल्यांकन की एक नई सम्यक् दृष्टि प्रदान की। अपनी विकास-यात्रा में ये साहित्यिक मूल्य एवं यह नव दृष्टि और अधिक निखरती गई है।

द्विवेदी युग से अब तक रचित इन प्रबन्धकाव्यों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ भी हैं जिनमें मानवमात्र का प्रशस्तिगान, लोकादर्श की प्रतिष्ठा, उपेक्षित पात्रों का उद्धार, कथा का संक्षिप्तीकरण एवं तर्कपूर्ण घटना-प्रसंगों की योजना प्रमुख हैं। इस संदर्भ में प्रथम प्रौढ़ कृति अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की 'प्रियप्रवास' (१६१४) है और अब तक (२०१६) की अंतिम प्रौढ़ कृति डॉ. अमरेन्द्र कृत 'कर्ण' है। उल्लेखनीय है कि महाभारत के उपेक्षित पात्रों-कर्ण और एकलव्य को चरित नायक बनाकर अनेक प्रबन्धकाव्यों की रचना हुई।

यूँ तो वेदव्यास ने महाभारत में पृथक 'कर्णपर्व' का आयोजन कर इस बात का संकेत कर दिया था कि महाभारत के इस पात्र पर आगे भी बहुत कुछ लिखा जाएगा, किन्तु हिन्दी काव्य-साहित्य में महाभारत के इस उपेक्षित पात्र पर कवियों की कलम स्वतंत्रता-पश्चात् ही चल पाई। हाँ, संस्कृत में जरूर नाटककार भास ने अपने 'कर्णभार' नाटक में 'दानवीर कर्ण' को प्रस्तुत किया था और बंग्ला में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता 'कर्ण-कुंती संवाद' चर्चित रही।

'रामायण' के पश्चात् 'महाभारत' ही ऐसा ग्रन्थ है जिसके पात्रों पर सर्वाधिक प्रबन्धकाव्य रचे गए। महाभारत के इन पात्रों में 'कर्ण' का व्यक्तित्व अलग से ही चमकता रहा जो कवियों के लिए आकर्षण का विषय रहा। कर्ण! मृत्युंजय कर्ण! जिसकी जीवन गाथा एक ओर संघर्षों, आहों, पीड़ाओं, अभिशापों, लांछनों, दुर्भाग्य की अन्तर्कथा है तो दूसरी ओर गुरुभक्ति और मित्रता का प्रतिमान भी, एक

ओर कठिनाइयों की पर्वतश्रृंखलाएँ हैं तो दूसरी ओर उस दुर्धर्ष-विराट व्यक्तित्व के समक्ष नत होते बाधारूपी पर्वतों की उपत्यकाओं के मध्य से बहती प्रेरणा-धारा है जो प्रत्येक पीड़ित जन-मन हेतु पीयूष सम है। तो ऐसे व्यक्तित्व पर कवि और काव्य की दृष्टि पड़नी स्वाभाविक ही थी।

हिन्दी साहित्य में 'कर्ण' पर आधारित प्रमुख प्रबन्ध रचनाओं में आनन्द कुमार विरचित 'अंगराज' (१९५०), केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' कृत 'कर्ण' (१९५०), रामधारी सिंह 'दिनकर' कृत 'रश्मिरथी' (१९५२), लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'सेनापति कर्ण' (१९५८), गुरूपद्म सेमवाल का 'दानवीर कर्ण' (१९५९), जगदीश चतुर्वेदी कृत 'सूर्यपुत्र' (१९७५), लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'वीरगति' (१९७६), डॉ. मोहन अवस्थी कृत 'अभिशप्त महारथी' (१९७६), बैजनाथ प्रसाद शुक्ल कृत 'कर्ण' (१९९१), शिवकुमार मिश्र कृत 'राधेय' (१९९५/१४ सर्ग), जयप्रकाश शर्मा प्रकाश कृत 'महारथी दानवीर कर्ण' (१९९६), देवदत्त देव कृत 'कर्ण' (१९९६), डॉ. गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र' कृत 'पौरुष की पराजय' (२०१७) और डॉ. अमरेन्द्र कृत 'कर्ण' (२०१८/२३ सर्ग) उल्लेखनीय हैं। इनमें कई खण्डकाव्य हैं तो कई महाकाव्य। हालांकि अन्य क्षेत्रीय भाषाओं/बोलियों में भी कर्ण पर प्रबन्धकाव्य रचे गए हैं जिनमें डॉ. रामेश्वर प्रसाद की 'कुन्ती के बेटा' (बज्जिका), हरिनारायण सिंह 'हरि' की 'कर्ण'(बज्जिका/२०१९) प्रभृति उल्लेखनीय हैं।

आनन्द कुमार विरचित महाकाव्य 'अंगराज' २५ सर्गों में विभक्त है और इसका प्रमुख रस वीर है। इसमें कर्ण का व्यक्तित्व अलौकिक विभूतियों, अद्भुत चारित्रिक गुणों एवं महान् मानवीय मूल्यों से मण्डित है। इसमें कर्ण के साथ-साथ महाभारत के अन्य पात्रों का मौलिक चरित्र-चित्रण मिलता है। भाव-व्यंजना एवं शैली की दृष्टि से यह प्रौढ़ रचना है। तात्विक दृष्टि से इसे महाकाव्य की संज्ञा प्राप्त है। इसमें कर्ण के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए पांडव-पक्ष के पात्रों को ज्यादा ही नीचा दिखाने की कोशिश की गई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'सेनापति कर्ण' (खण्डकाव्य/५ सर्ग) में तत्कालीन समाज एवं राजनीति की अनेक विसंगतियों को उद्घाटित करते हुए कर्ण के उज्ज्वल चरित्र को सामने रखा है। यह उच्चकोटि की काव्य-रचना है। गुरूपद्म सेमवाल ने 'दानवीर कर्ण' (खण्डकाव्य) में कर्ण की दानवीरता, क्षमा, आत्मत्याग, बलिदान आदि उच्च मानवीय मूल्यों का चित्रण कुशलतापूर्वक किया है। जगदीश गुप्त के 'सूर्यपुत्र' (१४ सर्ग) में कर्ण के अन्तर्द्वन्द्व को आधुनिक दृष्टि से चित्रित किया गया है। डॉ. मोहन अवस्थी के 'अभिशप्त महारथी' (६ सर्ग) एक प्रौढ़ कृति है जिसमें कर्ण के चारित्रिक औदात्य की सफल अभिव्यंजना है।

कर्ण-केन्द्रित उपर्युक्त सभी प्रबन्ध रचनाओं में रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'रश्मिरथी' (१९५२) एवं डॉ. अमरेन्द्र की 'कर्ण' (२०१८) सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रकवि दिनकर ने अपनी मानवतावादी निष्पक्ष दृष्टि से सूर्यपुत्र कर्ण के रश्मिमंडित चरित्र की तेजस्विता को न केवल समझा बल्कि उसे उदात्त रूप में प्रतिष्ठित भी किया। दिनकर ने 'रश्मिरथी' की भूमिका में लिखा है, ''कर्णचरित्र के उद्धार की चिन्ता इस बात का प्रमाण है कि हमारे समाज में मानवीय गुणों की पहचान बढ़ने वाली है। कुल और जाति का अभिमान विदा हो रहा है। आगे मनुष्य केवल उसी पद का अधिकारी होगा जो उसके सामर्थ्य से सूचित होता है, उस पद का नहीं जो उसके माता-पिता तथा वंश की देन है।....कर्णचरित्र का उद्धार एक तरह से नई मानवता की स्थापना का प्रयास भी है।'' कर्ण के प्रति कवि की सहानुभूति का कारण उसका अपने अद्‌भुत शौर्य और चारित्रिक दृढ़ता के कारण समाज का भूषण बन जाना है। इसे कवि ने स्वयं कर्ण से कहलवाया हैः-

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग; किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे।
मैं उनका आदर्श, किन्तु जो तनिक न घबरायेंगे,
निज चरित्र-बल से समाज में पद विशिष्ट पायेंगे।

(रश्मिरथी : चतुर्थ सर्ग)

कुल-गोत्र नहीं साधन मेरा, पुरुषार्थ एक बस धन मेरा,
कुल ने तो मुझको फेंक दिया, मैंने हिम्मत से काम लिया।
अब वंश चकित भरमाया है,
खुद मुझे खोजने आया है।

(रश्मिरथी : तृतीय सर्ग)

सब आँख मूँद कर लड़ते हैं, जय इसी लोक में पाने को
पर कर्ण जूझता है कोई, ऊँचा सद्धर्म निभाने को

(रश्मिरथी : सप्तम सर्ग)

जग में जो भी निर्दलित, प्रताड़ित जन हैं,
जो भी निहीन हैं, निन्दित हैं निर्धन हैं,
यह कर्ण उन्हीं का सखा, बन्धु सहचर है
विधि के विरुद्ध ही उसका रहा समर है।

(रश्मिरथी : पंचम सर्ग)

''वास्तव में कुरुक्षेत्र की रचना कर लेने के पश्चात् ही मुझमें यह भाव जागा कि मैं भी कोई ऐसा काव्य भी लिखूँ जिसमें केवल विचारोत्तेजकता ही नहीं, कुछ कथा

संवाद और वर्णन का माहात्म्य हो। यह उस मोह का उद्‌गार था जो मेरे भीतर इस परम्परा के प्रति मौजूद रहा है, जिसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त हैं''—यह कहना है दिनकर का रश्मिरथी के लिए। इसका कारण भी है। रश्मिरथी का रचना काल (१९५२) वह काल है जब हिन्दी कविता 'नई कविता' आन्दोलन के चरण से गुजर रही थी। हालांकि 'रश्मिरथी' का अनुशीलन यह बताता है कि इसमें दिनकर का उद्देश्य कथा-वर्णन से अधिक कर्ण के सम्यक् चरित्रांकन का है और यही कारण है कि दिनकर ने महाभारत के उन्हीं प्रसंगों का सांकेतिक वर्णन किया है जिनसे कर्ण के चरित्र की धवलता निरूपित होती हो। कर्ण के चारित्रिक औदात्य को प्रकट करने हेतु दिनकर ने महाभारत के कुछ प्रसंगों (दो-तीन) में बदलाव किए हैं, हालांकि कथा का बहुलांश महाभारत के अनुसार ही है। उदाहरणस्वरूप, महाभारत में कर्ण ने इन्द्र से एकघ्नी अस्त्र माँगकर लिया था जबकि रश्मिरथी में इन्द्र स्वयं यह अस्त्र कर्ण को देते हैं। इसी प्रकार महाभारत में कर्ण के तूणीर में विद्यमान सर्पमुखी बाण का वेश धरे अश्वसेन को अर्जुन पर छोड़ने का निर्णय स्वयं कर्ण करता है जबकि रश्मिरथी में स्वयं अश्वसेन कर्ण से इसके लिए निवेदन करता है जिसे कर्ण अस्वीकार कर देता है। दिनकर ने घटनाओं को माध्यम के रूप में स्वीकार कर कर्ण के चरित्र का रश्मिरथी के रूप में अभ्यर्थना की है। दिनकर की मौलिकता यहाँ, कथासंयोजन से अधिक भावसंयोजन और विचारसंयोजन में है।

डॉ. अमरेन्द्र कृत 'कर्ण' (२०१८) का रचनात्मक परिवेश वही नहीं है, जो रामधारी सिंह 'दिनकर' कृत 'रश्मिरथी' (१९५२) का है। दोनों में लगभग सात दशक का अन्तराल है। दोनों में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और परिवेशगत पार्थक्य विद्यमान है। हालांकि इस पार्थक्य के बावजूद दोनों में कुछ समानताएँ भी हैं और विषमताएँ भी।

किसी भी मूलकथा के समान्तराल वह कथा किंचित परिवर्तित रूप में विविध अंचलों की लोककथाओं में भी विद्यमान और चलायमान रहती है। वास्तव में लिखित-अलिखित रूप से बिखरे किसी भी प्रदेश के लोक-साहित्य में जिस सत्यता और प्रखरता से वहाँ का लोकमानस मूर्त हो सकता है, वह अन्य किसी माध्यम से संभव भी नहीं है। और कर्ण तो अंगप्रदेश के ही शासक रहे। तो स्पष्ट है कि उनसे जुड़ी कथाएँ अंगप्रदेश में बिखरी पड़ी हैं। मूल रचनाकार भले किन्हीं कारणों से अपनी रचना में इन्हें शामिल नहीं करता, पर ये कथाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रहती हैं। डॉ. अमरेन्द्र भी कहते हैं, 'सदियों का लोकविश्वास सोपान बन सकता है।' तो 'कर्ण' महाकाव्य में पूरी मौलिकता के साथ इस लोकविश्वास की

भी झलक है जो मूलकथा में उपलब्ध दरारों को तो भरते ही हैं, कर्ण के अनदेखे चारित्रिक पक्ष को भी सामने लाते हैं। और डॉ. अमरेन्द्र की आकांक्षाओं में यह भी है कि 'कर्ण का वह रूप भी आकार ले सके, जो काव्य के शिल्पियों से अब तक छूटे रहे हैं।'

इस महाकाव्य में डॉ. अमरेन्द्र की लेखनी कथासूत्रों का संकेत कर बार-बार कर्ण के अन्तर्मन की ओर मुड़ जाती है। उन्हें जहाँ भी अवसर मिला है वहाँ कर्ण के माध्यम से समानता की भावना और पर्यावरण-संरक्षण चेतना जैसे विषयों से संबद्ध चिंतन को व्यक्त किया है या फिर कर्ण की अन्तर्पीड़ा की मार्मिक अभिव्यंजना की है।

श्रम का हिस्सा अगर बराबर सबमें नहीं बँटेगा
होगा ही संग्राम, किसी का धड़ से शीश कटेगा।

(कर्ण : डॉ. अमरेन्द्र, सर्ग-५)

नागकुल का खिल उठा था एकदम नया संसार,
डोलता था मेघ बनकर उस विपिन में प्यार;
शीत में वैशाख हँसता, जेठ में फिर शीत,
ग्रीष्म की वर्षा से कैसी थी अनोखी प्रीत

और एक दिन जल उठा वह वन, बुझी न आग
अग्नि के पुतले बने-से जल गए सब नाग
जल गये कि राज्य पांडव का खड़ा हो भव्य,
सब तरह से दिख सके जो पूर्ण, अद्भुत नव्य।

(कर्ण : डॉ. अमरेन्द्र, सर्ग-१५)

दीप्त अगर होता तो जलता क्या खांडव का लोक,
धूम रहा है धरा-व्योम पर नागवंश का शोक
इस अधर्म का कौन लिखेगा हो तटस्थ इतिहास,
अग्निदेव का और पार्थ का हृदयहीन उपहास?

(कर्ण : डॉ. अमरेन्द्र, सर्ग-१६)

'कर्ण' महाकाव्य में दर्शन भी साकार हो उठा हैः-

इन्द्रियों की वासना की भीष्म उठती वायु,
लील लेती है क्षणों में नीति-नय की आयुय
घेरती है प्राण को बनकर तमिश्रा-जाल,
नाच उठता है मनुज पर कोटि फन का व्याल।

(कर्ण : डॉ. अमरेन्द्र, सर्ग-६)

लोकप्रिय कथ कर्ण पर द्रौपदी को भरी सभा में 'वेश्या' कहकर अभिहित करने का आरोप लगाती हैं जो स्वयंवर में पांचाली द्वारा कर्ण को 'सूतपुत्र' कहकर अपमानित करने का प्रत्युत्तर बताया गया है। इस कलंक को धोता है अंगदेश का लोकविश्वास, इस कलंक को नकारता है 'कर्ण' में कर्ण का आत्मचिंतनः—

'कितनी पीड़ा, कितनी लज्जा एक निमिष में छलकी,
झंकृत हो जाता तन-मन है, सुधि आते उस पल की;
लगता है, यह शक्ति व्यर्थ है, और कवच-कुंडल भी,
दे न सका उस भरी सभा में कृष्णा को संबल भी।

चेत हुआ था, तब कृष्णा को कृष्ण बचा ले निकले,
इसका कुछ अवकाश नहीं था, बुद्धि जरा भी संभले।
समझेगा यह कौन भला किस मन से गुजर रहा था,
लग कर उल्कापातों से पर्वत ही बिखर रहा था।

सब देंगे बस दोष मुझे ही न; को बिना विचारे,
टूटी होगी नाव भंवर में, नाविक खड़ा किनारे।
कुछ भी हो, इसका तो दुख है, चूक हुई है मुझसे
साथ धर्म का दे न सका, धरती शोभित है जिससे।

मैं अपने ही मान हानि में उलझा रहा समय पर,
रुककर पल भर सोच न पाया लज्जा, शील, विनय पर;
यह भी भार हृदय पर अपने लेकर अब जीना है,
माहुर है, प्राणों का घातक, जिसको ही पीना है।

कैसे-कैसे लांछन मुझ पर सभी लगाते आए,
जिससे कि यह कर्ण धरा पर पतित सदा कहलाए।
मैंने कहा कहाँ कृष्णा को, वह है रूपाजीवा
जो कहता तो इसी तरह क्या सीधी होती ग्रीवा!

वैसे भी यह ज्ञात नहीं है कुंजरपुरवासी को,
अंगदेश में छूट नहीं है शासित या शासी को;

रूपाजीवा को छोटी आँखों से कोई हेरे,
तब ऐसे में कृष्णा के हित बोल उठेंगे मेरे?

अंगदेश में गणिका भी पूजित है देवी-सी ही,
वारस्त्री के बिना अधूरी कथा अंगऋषि की ही।
लेकिन क्या इससे भी लेना, इससे अलग कहूँ मैं,
कृष्णा का दुख मेरे जैसा जिसमें सतत बहूँ मैं।

(कर्ण : डॉ. अमरेन्द्र सर्ग-१४)

यहाँ एक ओर कर्ण का द्यूतसभा में स्वर न उठाने की पीड़ा स्पष्ट है (कुछ भी हो, इसका तो दुख है, चूक हुई है मुझसे/साथ धर्म का दे न सका, धरती शोभित है जिससे) तो दूसरी ओर द्रौपदी को कर्ण द्वारा 'वेश्या' कहे जाने के आरोप का पुरजोर प्रतिकार भी है।

युद्धभूमि में कर्ण, कृष्ण से कहता हैः-

केशव, क्या कृष्णा का मैं अपमान कभी कर सकता?
शील-रूप जिसका ही मेरे मन में रहा महकता!

कर्ण स्पष्ट कहता हैः-

जो अधर्म है, वह अधर्म है; धर्म नहीं हो सकता,
योगी, संन्यासी, साधू का कर्म नहीं हो सकता;
मेरा क्या, मैं तो अपना इतिहास लिए चलता हूँ,
सूर्यपुत्र मैं होकर भी उपहास लिए चलता हूँ।

(कर्ण : डॉ. अमरेन्द्र, सर्ग-२२)

'कर्ण' महाकाव्य में नारी-विमर्श को पर्याप्त जगह मिली है। कर्ण की पत्नियां-वृषाली और पुनरनवी-अब तक कर्ण-काव्यों में उपेक्षित पात्र रही हैं। इस महाकाव्य में कर्ण के साथ इन दोनों के संवाद पर कई सर्ग हैं फिर वह बातचीत आमने-सामने हो या पत्र के माध्यम से। 'उपेक्षिताओं' की स्थिति में यह परिवर्तन लखकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की आत्माओं को अपार संतोष हो रहा होगा।

कथा-संयोजन की मौलिकता के संग-संग भाव-संयोजन और विचार-संयोजन की मौलिकता एवं साथ ही अन्तर्पीड़ा की मार्मिक अभिव्यंजना डॉ. अमरेन्द्र की इस कृति को एक अलग दृष्टि से देखने के साथ-साथ पात्र 'कर्ण' को भी एक नई दृष्टि से देखने की अनिवार्यता स्थापित करती है।

संघर्षों, आक्षेपों को अनवरत झेलता, जीतकर भी हारता और हारकर भी

जीतता महाभारत का यह अद्‌भुत पात्र निर्बाध अपने कर्म-पथ पर गतिमान रहा। यहीं निराला याद आते हैंः—

दे, मैं करूँ वरण,
जननि, दुख हरण पद-राग-रंजित मरण,
लांछना ईंधन, हृदय तले अनल,
भक्ति-नत-नयन मैं चलूँ अविरत सबल,
पार कर जीवन-प्रलोभन समुपकरण।

सूर्यनारायण और कृष्ण-नारायण के प्रति भक्ति-भाव से नयन नत किए हुए इस शीलवान विराट व्यक्तित्व के नाम यदि व्यास कृष्ण द्वैपायन ने जयसंहिता में एक पृथक् पर्व की ही योजना कर दी तो क्या आश्चर्य!

मौन रहने का पाप! पापजनित पश्चाताप का मौन! मौन की पीड़ा! भाग्य की क्रीड़ा! भाग्य से छत्तीस का आँकड़ा! शृंखला को तोड़ता! हृदय से हृदय को जोड़ता!

यह कर्ण की कथा है, इसमें अन्तर्मन की अनंत व्यथा है। व्यथा से काव्य की धारा भी फूटती है। यह धारा क्षीरसागर में जाकर मिलती है। क्षीरसागर का पायस उत्पीड़ित जन और क्लान्त मन हेतु पीयूष ही है।

यह कथा, कर्ण पर लगे लांछन, उसे मिले अभिशाप रह-रहकर हमसे पूछते रहेंगेः—

क्या सत्य ही, जय के लिए केवल नहीं बल चाहिए?
कुछ बुद्धि का भी घात, कुछ छल-छद्‌म-कौशल चाहिए?

(दिनकर : रश्मिरथी, सर्ग-६)

जैसे आलोकवरण करते हुए उस रश्मिरथी ने नारायण से पूछाः-

केशव, कभी दलित कुल में भी लेकर के अवतार
यह भी जानिए कुलिन कुलों का क्या है अत्याचार!
तब कहिएगा, क्या अधर्म था और धर्म क्या मेरा,
आँखों के आगे यह केशव कैसा घोर अंधेरा!

(कर्णःडॉ. अमरेन्द्र, सर्ग-२२)

और आरोपों का क्या है! आरोपों के निरूपण-निर्धारण की एक कसौटी यह भी रही है कि कौन किसके पक्ष में है? इतिहास विजेता ही लिखते-लिखवाते आए। पर पक्ष से क्या सचमुच इतना फर्क पड़ जाता है कि विपरीतता की स्थिति लाई जा सके? शायद नहीं। ऐसा होता तो श्रीराम के पक्ष में रहकर भी विभीषण 'घर के भेदी' के नाम से कुख्यात न हो गए होते। अस्तु! मूल तो कर्म है, शील है, जनकल्याण

की भावना है, त्याग है।

तो डॉ. अमरेन्द्र कृत 'कर्ण' महाकाव्य अपनी परम्परा में श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्य है और कदाचित् 'सम्पूर्ण' भी। इस कृति ने हिन्दी साहित्य में महाकाव्य के क्षेत्र में चले आ रहे एक दीर्घ रिक्तता की पूर्ति तो की ही है, साथ ही एक तरह से अप्रासंगिक हो चुके 'महाकाव्य' विधा की जीवन्तता एवं शक्तिमत्ता को भी पुनर्प्रतिष्ठित किया है।

कथानक

काव्यशास्त्रकारों ने महाकाव्य के लिए जिस प्रकार की कथावस्तु पर विशेष बल दिया है, तो कवि अमरेन्द्र ने भी अपने महाकाव्य के लिए प्रख्यात कथावस्तु को ही स्वीकार है, जो महाभारत में आई कथा से भिन्न नहीं है, लेकिन कर्ण महाकाव्य के कवि अपने काव्य की कथावस्तु के लिए सिर्फ व्यासकृत महाभारत पर निर्भर नहीं होते बल्कि इसके लिए ये लोक में प्रचलित उन कथाओं को भी समेटते हैं, जो कर्ण के व्यक्तित्व को सम्पूर्णता देने में सक्षम हैं। ये उपकथाएं दंतकथाओं की तरह भले ही हों, लेकिन इनमें कर्ण के उदात्त चरित्र के बीज भी सुरक्षित हैं, जिन आख्यानों का सहारा लेकर ही कवि अमरेन्द्र ने कर्ण के चरित्र को इतना उदात्त बना दिया है कि ऐसा कर्ण का कोई भी कवि नहीं कर सका है।

लेकिन हमें यह हमेशा स्मरण रखना होगा कि कथानक को विशाल रूप देने के लोभ में कवि ने यहाँ आख्यानों की भीड़ लगा ली है, ऐसा बिलकुल नहीं है। कर्ण के जीवन से जुड़ी ऐसी लोकप्रिय दंतकथाओं की संख्या इसमें आये छंदों की संख्या से अधिक नहीं है।

पहली कथा तो कर्ण के पूर्व जीवन से संबंधित है, दूसरी कथा कर्ण के तीर से मुनि-हत्या की है, तीसरी चंदन नदी से जुड़ी, चौथी कथा धरती के द्वारा कर्ण को शापित करने तथा पाँचवीं कथा मृत्यु काल में कर्ण के द्वारा दान की कथा से जुड़ी है और ये सभी कथाएं मूल कथा से इस तरह जुड़ी हुई हैं कि इनमें से अगर किसी कथा को कथावस्तु से हटा दिया जाय, तो वहाँ जैसे बहुत बड़ी खाली जगह बन जायेगी, जिसे अन्य किसी और प्रयास से भरना मुश्किल हो।

कर्ण महाकाव्य की कथावस्तु की यही एकान्विति इसके कथानक को श्रेष्ठ बनाती है। कर्ण से संबंधित जो भी प्रकरण कथावस्तु में आये हैं, वे प्रयास से नहीं

लाये हैं, उनकी उपस्थिति जरूरत की माँग के कारण है। इन उपाख्यानों-प्रकरणों के कारण कर्ण महाकाव्य की कथावस्तु में जो चमत्कार आ गया है, उसे कोई भी सहृदय पाठक सहज ही समझ सकता है। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्तिवाद के बहाने जिस प्रकरण वक्रता की बात की, उसकी कलापूर्ण उपस्थिति हमें इस महाकाव्य में साफ-साफ दिखती है।

फिर ऐसा भी समझना कि कवि अमरेन्द्र ने विभिन्न उपाख्यानों, वर्णनों को इसलिए अपने इस प्रबंध काव्य में स्थान दिया है कि एक विस्तृत कथा का समायोजन हो सके—गलत होगा। सच तो यह है इस महाकाव्य की विस्तृत कथा अपने विस्तार में भी अपना एक ऐसा ही रुप उपस्थित करती है कि पाठक के मन में स्थिर रह सके। दरअस्ल उपन्यास, नाटक या महाकाव्य ही कथावस्तु अगर हद से ज्यादा विस्तृत होती है, तो मानस में सहृदय सँजो नहीं पाता, फिर अगर जरूरत से ज्यादा संकुचित हो जाए, तो वह कथानक की दृष्टि से कलापूर्ण नहीं समझी जा सकती, क्योंकि ऐसे में उन स्थलों से भी बचना पड़ सकता है, जो वस्तु में जीवंतता-रोचकता को सृजित करते हैं। इन तथ्यों को समझते हुए ही कवि अमरेन्द्र ने अपने महाकाव्य में एक ऐसी कथावस्तु को ही स्वीकार किया है, जो वर्णनों-प्रकरणों के कारण विस्तृत होते हुए विस्तृत नहीं है।

तेईस सर्गों में विभाजित कर्ण की कथावस्तु न तो विराट है, न वामन; अगर कुछ है, तो उस रूप में, जिसे पाठक अपने मानस में धारण कर सके। कहना न होगा कि कथावस्तु के विस्तार के औचित्य की दृष्टि से इस महाकाव्य का वस्तु-विधान बिलकुल औचित्यपूर्ण है।

और अगर इसकी कथावस्तु की एक और विशेषता को हम जानना चाहें, तो वह यह है कि इसकी पूरी वस्तु पुर्वापर संबधों से बंधे होने के कारण सरल तो दिखती है लेकिन वास्तव में यह सरल है नहीं, यह जटिल शैली की कथावस्तु भी है। यह ठीक है कि इस महाकाव्य के महानायक की कथावस्तु में इसके जन्म, इनकी शिक्षा-दीक्षा, परशुराम द्वारा शिक्षा ग्रहण करना, हस्तिनापुर की शस्त्र-परीक्षा में कुल को लेकर अपमानित होना, दुर्योधन की ओर से दिक्विजय प्रस्थान, महाभारत रण में भाग लेना, समर मे रथ के चक्कों के फँसने के कारण अर्जुन के तीर से वीरगति को प्राप्त करना, ये सारी कथाएं, महाभारत में वर्णित कथाओं के अनुसार ही हैं, लेकिन कर्ण महाकाव्य की यह कथावस्तु अपने कथाप्रवाह में कई ऐसे उपाख्यानों को समेट कर चलती है जिससे कथा की सरलता टूटती है। दरअस्ल सारस्वत प्रतिभा के कवि कथानक में यह वक्रता, कथानक में रोचकता के जन्म के लिए ही ऐसा करते हैं, जो सभी कवियों से संभव भी नहीं और फिर डॉ. अमरेन्द्र के इस महाकाव्य

में कथानक की जटिलता स्थिति विपर्यय के कारण भी है और अभिज्ञान के कारण भी।

जनूष पर्व यानी प्रथम सर्ग में कर्ण के जन्म और अंग के संतानहीन नरेश अधिरथ को उसकी प्राप्ति की कथा है जबकि प्रारब्ध पर्व (द्वितीय सर्ग) में कर्ण के पूर्व जन्म की एक लोककथा, जो उसके कवच-कुंडल और धरती पर पुनर्जन्म से जुड़ी है, आती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि पूर्व जन्म में सूर्य की उपासना से स्वर्णिम कवच प्राप्ति की कथा तो लोक में प्रचलित है, लेकिन स्वर्ग मे एक त्रषिकन्या का कर्ण पर मोहित होना और कर्ण के द्वारा अवांछित कामना का तिरस्कार और इसीसे ऋषिकन्या द्वारा धरती पर पुनः जन्म लेने का शाप देना, कवि कल्पित है, जो न केवल सूर्य से कर्ण के पूर्व जन्म के संबंध को दिखाने के लिए यह यहाँ रखा गया है, बल्कि धरती पर आने के कारण तथा क्वच-कुंडल के रहस्य को सुलझाने के लिए भी यह आवश्यक था।

लेकिन कवि अमरेन्द्र ने लोक में प्राप्त कर्णकथा में हमेशा अपनी कल्पना से कुछ-न-कुछ जोड़ दिया है, ऐसा बिलकुल नहीं है। महाकाव्य में घरती द्वारा शापित किया जाना या फिर गिरिडीह पर्व (सर्ग पंद्रह) में आई ऋषि द्वारा कर्ण को शापित किए जाने की कथा वैसी ही है, जिसतरह लोक में प्राप्त है। निःसंदेह यह तो विशद विश्लेषण का विषय होगा कि इन कथाओं के योग से महाकाव्य मे किस काव्य सौन्दर्य का समावेश हो पाया है लेकिन आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति निरूपण के क्रम में जिस प्रकरण-वक्रता की बात कही है, उसे ध्यान में रखते हुए अगर महाकाव्य की मूल कथा के साथ आई इन छोटी-छोटी घटनाओं पर विचार करें, तो स्पष्ट होगा कि इनके सुयोजन से कर्ण के चरित्र मे जो वैविध्य का संचार हो पाया है—वह नहीं हो पाता, अगर इन प्रकरणों को उन स्थलों से जोड़ा नहीं गया होता।

कथा की जटिलता इससे भी बनती है कि महाभारत की घटनाएं घटना-प्रवाह के क्रम में यहाँ नहीं आई हैं, वे चिंतन के क्रम में लहरों की तरह विपर्यय रूप में आवश्यकतानुसार आती-जाती रहती हैं। चाहे वह द्रोपदी के चीर-हरण, द्रोपदी-स्वयंवर, या द्रोपदी को शिव द्रारा वरदान दिया जाना या फिर गिरिडीह से संबद्ध कुंती की कथा आदि हो।

कर्ण महाकाव्य की कथावस्तु के संदर्भ में एक बात और विचारणीय है कि यहाँ महाकवि ने कल्पना से कुछ कथाप्रसंग जोड़े हैं, तो कर्ण से जुड़ी महाभारत की लोकप्रिय घटनाओं को अपनी इस कृत्ति में स्थान भी नहीं दिया है। यह प्रसंग है—कीट के काटने और कर्ण के धैर्य से गुरु परशुराम का यह जान लेना कि वह ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय कुमार है क्यों कि यह धैर्य सिर्फ क्षत्रियों में हो सकता है। कवि

का यह मानना है कि जिस परशुराम का निवासस्थान ही मंद्राचल 'महेंद्राचल' हो, वह अंग के गजा की जाति से अनभिज्ञ कैसे हो सकता है और फिर ज्ञान की उच्च भूमि पर स्थित पुरुष में जाति को लेकर न तो इस तरह का भाव हो सकता है, न शोभनीय। इसी से कवि ने महाभारत की इस कथा को नेपथ्य में डाल दिया है।

ठीक इसके विपरीत महाकवि ने प्रबंध के तेईसवें सर्ग (पंचता पर्व) में अपनी कल्पना की एक कथा मूल कथा से जोड़ा है, वह यह कि अस्त्रबिद्ध कर्ण की मृत्यु के क्षण निकट है और उस क्षण में उसे जो दिख रहा है, वह कृष्ण से कह रहा है—कि नदी तट पर प्यास बुझाने को आया सारस नदी में छिपे विषधर का शिकार हो गया है जो सारस जैसे-तैसे उस विषधर से मुक्त हो आकाश की ओर गतिशील तो हो जाता है लेकिन वह चंपा देश नहीं पहुँच पाता और उसके पंख हवा में ही कमल की पंखुड़ियों की तरह बिखर कर नीचे आ जाते हैं। यह रूपक कथा है, प्रतीक से पूर्ण। यहाँ सारस कर्ण है तो मृत्यु विषधर। फूल की पंखुड़ियों का चंपा के ऊपर बिखरना कर्ण की उस अंतिम इच्छा का प्रतीक है कि उसका शवदाह उसी की मातृभूमि में हो। यह लोकमानस मे बसी कथा है कि कर्ण की चिता कृष्ण ने अपनी तलहथी पर अंग प्रदेश के जेठोर अंचल की शक्ति भूमि पर पहुँचकर रचाई थी। कवि द्वारा रचित रूपक कथा इसी लोककथा को अपने मे समेटे हुई है और इस तरह महाभारत के इस महापराक्रमी योद्धा के जन्म से लेकर मृत्यु तक की कथा मूल कथा में सिमट आई है।

कथावस्तु के संबंध में महाकाव्य के रूप-स्वरूप पर विचार करते हुए काव्यशास्त्रियों ने इसकी कथावस्तु के संबंध में यह भी बताया है कि महाकाव्य की कथावस्तु नाटक की पाँच संधियों : मुख संधि, प्रतिमुख संधि, गर्भ संधि, नियताप्रि और फलप्राप्ति से युक्त होना चाहिए।

कर्ण महाकाव्य मे अनेक प्रयोजनों और रसों की जो मुख संधि है, उसमें कर्ण की माँ के रूप में कुन्ती और राधा के अतिरिक्त गंगा को भी माँ बताया गया है :

''मैं ऋणी भागीरथी का, माँ मेरी रक्षक रही,
जन्म की मेरी कथा उसने ही पहले थी कही;
जो नहीं लहरें संभाले साथ चलती, क्या पता,
मैं कहाँ होता, न होता, किस अतल में लापता ।
''पुण्य की माता धरा पर सब दुखों को हर रही,
सृष्टि के आरम्भ से ही स्वर्ग इसको कर रही;
जो मृत्यु को जीव देती, शक्ति देती, पाप हर,

जो क्षमाशीला रही है सुर-असुर के शाप हर ।
''दूसरी माता यही मेरी बनी है, हे प्रिये,
थी इसीकी ही कृपा जो आज मैं, तुम मिल सके;

—पृ. ७६

प्रकट है कि प्रकृति पर्यावरण का चित्रण भी इस महाकाव्य के कई प्रयोजनों में प्रमुख है जो नाट्य संधि के अनुकूल ही गर्भ संधि तक स्पष्ट-अस्पष्ट होता हुआ गर्भ संधि तक आते-आते पूर्ण रूप लेने लगा है और फिर विमर्श संधि तक पहुँचते ही लक्ष्य सिद्धि के प्रयास भी प्रकट हो जाते है :

''बचा हयसेन ही, बस नागकुल में, जल गए थे सब,
कहीं आँसू बहाने बच गया था और तक्षक भी;
किसी कायर पुरुष-सा इन्द्र केशव की शरण में थे,
कहीं क्या भीरू होता है बली, नृपराज रक्षक भी !''
अभी कुछ सोचता, चिन्ता उठी शंकाएँ लेकर फिर,
''कहीं वह सत्य ही न हो, कहाँ यह झूठ लगता है !
बहुत चाहा है ऐसा, मैं भुला दूँ स्वप्न आँखों के
खड़ा फिर सामने होता, कहाँ से आ धमकता है ।
''फड़कती है भुजाएँ मेरी ये आँखें फड़कती हैं,
हुआ ऐसा अगर, जो स्वप्न में मुझको दिखा है अब;
भले ही कृष्ण का हो साथ अर्जुन को न छोड़ूँगा,
जला खांडव अगर, तो नाश उसका भी लिखा है अब ।
''यहाँ तक सोचना पर व्यर्थ है इस स्वप्न में पड़ कर,
पता है पांडवों को नागकुल का कौन रक्षक है,
कहे खांडव कोई क्यों, वह मेरा तो मेघवन ही है,
बचेगा किस तरह से कर्ण से जो विपिनभक्षक है !

—पृ. १०२-१०३

यह जो मुख संधि से लेकर गर्भ संधि तक कथानक-यात्रा है, दरअस्ल पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में इसे कथानक का संवृत भाग माना गया है जो कर्ण महाकाव्य में सर्ग जनुष् पर्व से स्वप्न पर्व तक फैला हुआ है और यहाँ से लेकर पंचता पर्व यानी सर्ग तेईस तक कथावस्तु का विवृत भाग है । प्रबंध के संक्रांति पर्व में वन पर्यावरण के प्रति जो कर्ण का मोह दिखता है, वह वहाँ भले प्रयोजन की दृष्टि से कुछ स्पष्ट-सा न लगे लेकिन यही मोह खांडव वन के जलने और उसके साथ वनवासियों के सामूहिक विनास पर जब क्रोध में परिवर्तित होता है, तो महायुद्ध मे

कर्ण की प्रमुख भागीदारी का रहस्य भी खुलता है।

स्पष्ट है कि डॉ. अमरेन्द्र ने कर्ण की कथावस्तु में कारण-कार्य का बहुत ख्याल रखा है ताकि महाभारत के कारण में खांडव वन के वनवासियों का और वन का विनाश दिखे। चूंकि यह महाकाव्य कर्ण पर केन्द्रित महाप्रबंध है, इसी से इसकी कथावस्तु की गति को कवि ने अपनी कल्पना से, (जिसे हम सर्वथा नवीन भी नहीं कह सकते) एक नई दिशा दे दी है, यहाँ युद्ध का कारण बदल गया है, यह कारण नई जटिल सामाजिक व्यवस्था और पर्यावरण से उपजा हुआ है, जिससे यह महाकाव्य अपने कथ्य को लेकर आधुनिक हो उठा है।

महाभारत में कर्ण की जो कथा मिलती है, वह उसे महानायक का चरित्र देने में पूरी तरह से सक्षम नहीं और न उसमें वह विस्तार ही है कि उसके व्यक्तित्व के विविध आयामों को दिखा सके, इसी से डॉ. अमरेन्द्र कर्ण की कथा के लिए सिर्फ महाभारत पर निर्भर नहीं रहे हैं, इन्हें लोक से जो भी कर्ण कथाएं मिलीं, उन्हें इन्होंन अपने कथानक में शामिल कर कथानक को वह विस्तार दिया है, जो महाकाव्य के अनुकूल हो सके।

कथानक में विस्तार के लिए महाकवि ने एक और काम किया है कि पांडव को वनवास मिलने के बाद कर्ण को अंगदेश में लौटना दिखाया है, अपनी प्रिया के साथ उसके पारिवारिक जीवन, भ्रमण आदि का अपनी कल्पना से चित्रित कर जहाँ कर्ण के न केवल अनगढ़ जीवन को एक व्यवस्था दी है, बल्कि पूर्णता भी दी है, इससे कर्ण की जीवनकथा महाकाव्य के कथानक के अनुकूल बन गई है।

लेकिन ऐसा भी नहीं है कि कर्ण से जुड़ी लोक में प्रचलित कथाओं को जोड़ने या अपनी प्रतिभा से नवीन घटनाओं की उद्भावना से कवि कथानक को इतना विस्तार दे देता है कि बाद में समग्र रूप में देखने के क्रम में इसके कई अंश स्मृत्ति से बाहर ही रह जाते हें। अगर आस्वादक महाकाव्य के सपूर्ण कथानक को अध्ययनोपरांत अपनी स्मृति में लाना चाहे, तो बहुत सहजता के साथ इसकी मूल कथा मानस पटल पर सिमट आता है।

कथानक के आयाम के संदर्भ में यहाँ इस बात की ओर भी संकेत करना आवश्यक है कि कथानक के विस्तार और संकोच के क्रम में महाकवि अन्विति के प्रति कम सजग-सावधान नहीं रहा है। कथानक में अनावश्यक फैलाव न आ जाए, इसी से कवि ने उस प्रसंग को भी कुछ संक्षिप्त किया है, जिसका विस्तृत हो जाना सहज संभव था। महाकाव्य का 'मकर पर्व' इसका उदाहरण है। कर्ण की सेना और आयुधों के विस्तृत वर्णन से बचना, इसी का उदाहरण है। कथानक के फैलाव से बचने के लिए कवि ने न केवल समर में शामिल योद्धाओं के नाम और एकाध

विशेषण के साथ काम चला लिया है, बल्कि कहीं-कहीं संज्ञा को संक्षिप्त कर लिया है, जैसा भूरिश्रवा को 'श्रवा' लिख देना, हालांकि ऐसा प्रयोग छंद की मात्राओं के कारण हीं अधिक लगता है, इस दृष्टि से कर्ण के वज्रास्त्र से घटोत्कच की मृत्यु का प्रकरण एक सुंदर उदाहरण है, जहाँ कवि कथा को खींचने की जगह सिर्फ इतना लिखता है कि कर्ण उस दिशा की ओर हाथ उठा कर कुछ फेंकता है और फिर इसके बाद ही उस दिशा में एक भयंकर शोर के साथ कोई पर्वत आकाश से गिरता दुर्योधन को लगता है।

अन्विति की यह विशेषता महाकाव्य के संपूर्ण कथानक के साथ जुड़ी हुई है। कर्ण के कथानक में महाकवि ने न केवल आदि, मध्य और अत का खयाल रखा है, बल्कि अन्विति का भी उतना ही ख्याल रखा है। कर्ण के कथानक का आदि भाग वह है, जहाँ तक प्रबंध के प्रयोजन स्पष्ट नहीं होता, यानी आरंभ के पाँच सर्ग, जुनूष पर्व से लेकर प्रजा पर्व तक कथानक का आदि भाग है, जहाँ कथा का विकास तो है, प्रयोजन नहीं! प्रयोजन तो प्रज्ञा पर्व के बाद से प्रकाश में आने लगता है जो भँवर पर्व से गिरिडीह पर्व यानी दस सर्गों तक की घटनाओं से फैला देखा जा सकता है, इसी प्रभोजन की सिद्धि के लिए महाकाव्य के बाकी सर्ग हैं जो कथानक का अंत है। जहाँ तक इस महाकाव्य के प्रयोगन की बात है, वह समकालीन समय की कोख से उठे सवाल से जुड़ा हुआ है। महाकवि ने खांडव वन के दाह को वनवासी और पर्यावरण से जोड़कर कर्ण की कथा को बिलकुल एक नया रूप-रंग दे दिया है और इसके लिए महाभारत की जो कथाएं या कवि कल्पित कथाएं हैं, वे आपस में कुछ इस तरह गुंथी हुई हैं, कि उनमें से एक को अलग कर देने कथानक का सौन्दर्य ही क्षीण पड़ने लगे। कर्ण महाकाव्य की सारी घटनाएं, प्रकरण अपने-अपने स्थान से महाकाव्य की कथावस्तु को रोचकता प्रधान कर रहे हैं।

बात रोचकता की आ गई है, तो यहाँ इसका उल्लेख करना भी आवश्यक होगा कि कर्ण महाभारत का एक ऐसा पात्र है जिसके बारे में शायद ही किसी व्यक्ति को जानकारी नहीं हो, ऐसी स्थिति में कथावस्तु में रोचकता को बनाए रखना कठिन कार्य ही था, लेकिन डॉ. अमरेन्द्र ने यह काम भी बड़ी कुशलता से किया है और यह काम कर्ण के जीवन से जुड़ी अनेक लोककथाओं को गूँथ कर ही नहीं किया है, बल्कि स्थिति-विपर्यस, अभिज्ञान, आकस्मिकता आदि के संयोजन से किया है। गिरिडीह पर्व में नागवंशियों से हीन उजडे प्रदेश को देख खांडव वन में जल गये नागवंशियों का अभिज्ञान और इसके जैसे ही कई प्रकरण के समावेश से महाकवि ने कथानक में अद्भुत ढंग से औत्सुक्य-रोचकता का सृजन कर दिया है।

अरस्तू ने महाकाव्य के कथानक की श्रेष्ठता के लिए जिन बातों की ओर

संकेत किया है, सिर्फ उन्हीं आधारों पर कर्ण का कथानक सबल नहीं है, बल्कि भारतीय काव्य मीमांसक ने महाकाव्य के लिए जिन प्रकरण ककोक्ति की ओर संकेत किया है, अगर उस कसौटी पर भी कर्ण महाकाव्य के कथानक को देखें, तो यह कम रोचक सिद्ध नहीं होगा । महाकवि ने प्रबंध के स्थल- स्थल पर प्रकरणों का सहारा लेकर कथावस्तु को सबलता ही नहीं प्रदान की है, उसे लालित्य भी प्रदान किया है। यह प्रकरण कवि की कल्पना से भी उत्पन्न है और प्राप्त प्रकरण में कुछ नवीन कल्पना से जुड़े भी। मंजूषा मं बंद बालक शिशु के नदी में बहने के साथ प्रहरी और सूर्य का नदी के अलग-अलग तटों से रक्षा में निकलना कवि कल्पित प्रकरण ही है :

कह उठा, ''सब कुछ कुशल है, क्षेम कहिए,
देवता का, देवियों का प्रेम कहिए;
कालिमा कैसी भयावह ! मृत्यु जैसी,
रात कालिख-कोठरी में बन्द-सी थी।
''गिरि-वनों के रास्ते सब तिमिरपोषित,
काल की ही रात थी वह, पूर्ण घोषित;
इस नदी की उस नदी से धार मिलती,
एक पल में कोस भर थी जा निकलती ।
''और मेरा अश्व गति में यान बन कर,
था तिमिर से होड़ लेता खूब तन कर;
क्या कहूँ हे देवी, लेकिन वह पुरुष जो,
इस तरह चलता कि फीकी अश्वगति तो ।
''स्वप्न था मेरा कि आँखों का भरम था,
जागता था दिवस-सा ही; घोर तम था;
रात भर तिगुनी रही थी गति मरुत की,
और तिगुनी धार चन्दन की अनोखी ।
''स्वर्ण का संदूक सीधे जा रहा था,
धार के संग मरुत लोरी गा रहा था;
रात भर बहता रहा संदूक थिर-सा,
एक टक था देखता उसको अधिर-सा ।
''और जब संदूक तट से जा लगा तो,
शांत थीं सारी दिशाएं, उदधि सातो,
और संग-संग रात भर वह जो चला था,
भोर होते व्योम से वह जा मिला था ।

''वह उधर से जा रहा था, तो इधर मैं
अब भी कितने प्रश्न सारे इस हृदय में ।
भोर की पहली किरण उगने लगी थी,
थी उनींदी-सी हवा लेकिन जगी थी ।
''कौन था वह रात भर चलता रहा था ?
गति मरुत की नापते बहता रहा था;
रश्मियों को दूर तक आगे बिछाए,
इस तरह कि सब दिखे, वह दिख न पाए ।

—पृष्ठ १३-१४

जैसे कि प्रारब्ध पर्व यानी द्वितीय सर्ग में कवि ने कर्ण के पुनर्जन्म की कथा में ऋषि कन्या को प्रवेश कर कथा में नयापन जोड़ने के साथ प्रयोजन को भी साध लिया है। फिर गिरिडीह पर्व में ऋषि के शाप और प्राण दान सर्ग में धरती के शाप और सोरी घर में कुंती का केशव से वर माँगने के प्रकरणों से कवि ने कर्ण की नियति को जिस तरह से संकेत मे पूर्व ही उल्लिखित कर दिया है वह कथा के अंत का संकेते है, यह अत और भी बहुत मन को बांधनेवाला बन जाता है, जब कर्ण सारस और सर्प के द्वन्द्व की कथा सुनाता है—यह प्रकरण महाकाव्य के अंतिम संग 'पंचता पर्व' में है और यह पूरी तरह से कवि कल्पित है। इससे साफ जाहिर है कि महाकवि अमरेन्द्र ने अपने महाकाव्य कर्ण में प्राप्त और नवीन उद्भावना के प्रकरणों के संयोग से अपने प्रबंध के कथानक को अत्यधिक सबल और रोचक बना दिया है ।

सर्ग-विधान

महाकाव्य कर्ण का सर्ग विभाजन भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार आठ की संख्या से बंधा नहीं है। इसमें सर्गों की संख्या आठ की जगह तेईस है। इसके पूर्व कामायनी में पन्द्रह सर्गों का भी विधान है, कर्ण महाकाव्य में जितने प्रकरण शामिल हैं, अगर उन्हें ही डॉ. अमरेन्द्र ने अलग-अलग सर्ग में कहा होता, तो संभव है कि यह भी पचास सर्गों का महाकाव्य होता, लेकिन ऐसा नहीं है। डॉ. अमरेन्द्र ने उपकथाओं को किसी मुख्य घटना से जोड़कर ही रखा है, इसी कारण यहाँ न तो कथानक का अनावश्यक फैलाव है और न सर्गों की सीमा से बहुत अधिक संख्या।

आलोच्य महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अलग-अलग शीर्षक हैं; जैसे, जनुष् पर्व, प्रारब्ध पर्व, बीज पर्व, चंद्रातप पर्व, प्रज्ञा पर्व, भँवर पर्व, प्रबोध पर्व, प्रमदवन पर्व, संक्रान्ति पर्व, प्रतिज्ञा पर्व, स्वप्न पर्व, वृष पर्व, आवर्त्त पर्व, प्रत्यूष पर्व, गिरिडीह पर्व, गवाक्ष पर्व, प्रपंच पर्व, पुनर्नव पर्व, प्राणदान पर्व, कूटनीति पर्व, घटुत्कच पर्व, मकर पर्व और पंचता पर्व।

महाकवि ने खंड को पर्व नाम दिया है जो अपने आप में इस ओर साफ संकेत है कि इस महाकाव्य का कथानक व्यास के महाभारत से बहुत साम्य रखता है। लेकिन यहाँ घटनाओं के संकलन में बिखराब नहीं, उनमें एक क्रमिक विकास साफ-साफ मिलता है और फिर प्रत्येक पर्व या सर्ग किसी प्रमुख घटना से ही जुड़ा है, ऐसा नहीं है कि संख्या बल को दिखाने के लिए, किसी सामान्य कथा या प्रसंग को लेकर सर्ग का सृजन कर दिया गया हो।

सर्गों के नामकरण यूं तो घटनाओं की ओर संकेत करने में सक्षम हैं, लेकिन कई बार इनके रूप प्रतीकात्मक होने के कारण इन्हें सहजता से समझना

मुश्किल ही है। वृष पर्व, आवर्त पर्व, प्रत्यूष पर्व, ऐसे ही सर्ग है।

जनुष् पर्व कर्ण के जन्म से संबंधित पर्व है जिसमें मंजूषा में पड़े शिशु कर्ण का चंपा पहुँचना और उसे वहाँ के राजा अधिरथ द्वारा प्राप्त करने की कथा के साथ अंग देश का वर्णन है, तो अंत में सूर्य द्वारा कुन्ती को ढाढ़स बँधाना भी।

प्रारब्ध पर्व में सूर्य द्वारा चंपानरेश की पत्नी राधा को कर्ण के पूर्व जन्म का कथा वर्णन है और यह बताकर कि वही इसका पिता और कुंती ही इसकी माँ है, वह यह कहते हैं कि वह इस बालक को सभी प्रकार की शिक्षा देना चाहते हैं, इसके बाद वह स्वयं चंपा से लौट जायेंगे।

बीज पर्व में सूर्य द्वारा कर्ण को शस्त्र शिक्षा तथा अन्य बातों की जानकारियाँ देने का उल्लेख है, जबकि चंद्रालप पर्व में चंपानरेश अधिरथ और उनकी रानी राधा के अन्तर्द्वन्द्व का उल्लेख है कि कर्ण का राज्याभिषेक हो या उसे आगे की शिक्षा के लिए अवसर दिया जाय।

प्रज्ञा पर्व में मंदार पर्वत्त पर परशुराम से शिक्षा ग्रहण कर रहे कर्ण और पर्वत का सौन्दर्य-वर्णन है, यह मुख्य रूप से परशुराम के व्यक्तित्व का पर्व है।

भँवर पर्व में कर्ण को लिए अधिरथ का हस्तिनापुर पहुँचना वर्णित है। इसी सर्ग में रंगशाला के बीच दुर्योधन और भीष्म पितामह आदि के बीच नोंक-झोंक के अतिरिक्त कुंती की यह स्वीकारोक्ति प्रत्यक्ष होती है कि कर्ण देवअंश ही है। भँवर शीर्षक पर्व अपेक्षित लक्ष्य की प्राप्ति में कर्ण की उपस्थिति से विघ्न की उपस्थिति की ओर संकेत है और उसका आगमन नई दुर्निवार चिंता का कारण।

प्रबोध पर्व में चंपा लौट आये कर्ण की उठी नई चिंता कि रंगशाला में जब वह सूतपुत्र कहकर अपमानित किया जा रहा था, तब वह किस नारी का स्वर था, जो उसके पक्ष में उठ खड़ी हुई थी, का वर्णन है और इसका भी उल्लेख कि उसकी सारी चिंताओं और शंकाओं के समाधान के लिए रश्मिपुरुष सूर्य प्रकट होते हैं और सत्य से अवगत कराते हुए उसकी चिंताओं को शांत करते हैं।

महाकाव्य का प्रमद वन पर्व मुख्य रूप से कर्ण और उसकी भार्या वृषाली के पूर्वराग का सर्ग है, जो दोनों के संवाद के बीच से सामने आता है, जबकि संक्रान्ति पर्व में चंपा के मेघवन के सौन्दर्य के साथ कर्ण द्वारा वृषाली को इस सूचना का उल्लेख है कि दुर्योधन कृष्णा को भार्या बनाना चाहता है और उसकी जीत के लिए उसे हस्तिनापुर जाना होगा।

सर्ग दस यानी प्रतिज्ञा पर्व हस्तिनापुर से लौटे कर्ण की मनोदशा से जुड़ा पर्व है जिसमें वह स्वयंवर में कृष्णा द्वारा उसके अपमान, कृष्णा के जन्म लेने के कारण और कुरु वंश को कर्ण द्वारा बचा लेने के संकल्प आदि का वर्णन है।

स्वप्न पर्व मुख्य रूप से उस घटना से जुड़ा पर्व है जिसमें उसका विस्तार से उल्लेख है कि किस प्रकार एक अनलऋषि की भूख-प्यास को शांत करने के लिए खांडव वन को राख किया गया, जिसमें सारे नागवंशी जल गये थे।

वृष पर्व में प्रतीक के शब्द वृष से यह ज्ञात होता है शांत स्वभाव से अपने मार्ग पर चलनेवाला कर्ण दुयोधन से खांडव वन की सारी दुर्घटनाओं को जान कर किस तरह उग्र होता है। इसी सर्ग से होनेवाले जुए के खेल की भी जानकारी मिलती है।

आवर्त्त पर्व में जहाँ पांडवों को पुनः वनवास का संकेत है, वहीं कर्ण का अंतर्द्वन्द्व भी कि पांडवों को वनवास मिलने पर भी वह हस्तिनापुर में क्यों टिका हुआ है ? क्या विजय में प्राप्त सम्पत्ति पाना चाहता है, कर्ण पुनः चंपा लौट आता है। इस सर्ग में मनोविज्ञान की भूमि पर कर्ण स्वयं और कौरवों को निर्दोष दिखाने का जो तर्क प्रस्तुत करता है, वह बहुत रोचक है और तथ्यपूर्ण है।

प्रत्यूष पर्व जहाँ कर्ण के हस्तिनापुर से लौटने के बाद चंपा और कर्ण के मन की निर्मलता-शांति का अर्थ देता है, वहीं अंग के नये नृप वृषसेन के राज्याभिषेक की ओर भी संकेत है। यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रत्यूष के समय में रात बीतने का अहसास बना ही रहता है, जैसे कि चंपा लौट आने के बाद भी कर्ण का मन अतीत के राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो पाता। चौदहवें सर्ग को प्रत्यूष पर्व नाम देने के पीछे यही लक्ष्य लगता है।

गिरिडीह पर्व महाकाव्य का पन्द्रहवां सर्ग है। इस सर्ग में महाकवि ने एक प्रसिद्ध लोकविश्वास के आधार पर अपनी इस धारणा को कर्ण के माध्यम से व्यक्त किया है कि कुंती ने अंगप्रदेश की प्रसिद्ध चानन नदी के उद्गम स्थल के निकट ही बालक कर्ण को मंजूषा में रखकर नदी को सौंपा होगा, साथ ही इस कल्पना को जामा पहनाया है कि इसी प्रदेश में जलप्रलय के कारण नागकुल चलते हुए खांडव वन जा पहुँचे थे।

गवाक्ष पर्व यानी प्रबंध का सोलहवां सर्ग, भविष्य में होनेवाली उन घटनाओं के पूर्वानुमान का पर्व है, जो पांडवों के अज्ञातवास की अवधि के समाप्त होते ही गोहरण, छद्म युद्ध आदि से संबंध है, प्रबंध में यह पूर्वानुमान कर्ण अपनी भार्या पुनर्नवी को हस्तिनापुर प्रस्थान से पूर्व चंपा में सुनाता है। गवाक्ष वह खिड़की है, जहाँ से भविष्य को देखा गया है।

महाकाव्य का प्रपंच पर्व शांतिदूत के रूप में संजय, श्रीकृष्ण आदि के हस्तिनापुर पहुँचने, कृष्ण को बंदी बनाने के षढ़यंत्र, कृष्ण के क्रोधित रूप, कर्ण को कृष्ण का सुझाव और आखिर में कृष्ण द्वारा सातवें दिन ही महायुद्ध होने की घोषणा

से जुड़ा है। जबकि पुनर्नव पर्व विप्रभेष में कर्ण से कवच कुंडल माँग लेने की भयावह घटना से जड़ा है और किस तरह वह धन्वन्तरी वैद्यराज के कारण नवजीवन को प्राप्त कर सका।

प्राणदान पर्व सिर्फ माता कुंती को कर्ण द्वारा पाँच पुत्रों की माँ बने रहने के वरदान से संबंधित नहीं है, इसमें कुंती द्वारा प्रसूतगृह में विधाता से शिशु अर्जुन के लिए वर माँगना और अन्य प्रसंगों का भी उल्लेख है लेकिन अर्जुन को छोड़ चारो पांडव को प्राणदान देने के प्रकरण से ही यह सर्ग जुड़ा हुआ है, जैसा कि कूटनीति पर्व उस प्रसंग से जुड़ा पर्व है, जब कर्ण कौरव सेना के नेतृत्व के लिए उतरनेवाला है और कृष्ण पांडव को यह बता रहे हैं कि कर्ण के शंखनाद के प्रभाव को रोकने के लिए यह बहुत जरूरी है कि पांडवों की ओर से असंख्य शंखों का नाद हो, जिससे कर्ण का शंखनाद अप्रभावी सिद्ध हो जाय—नहीं तो पांडवों के लिए विजय पाना असंभव भी बन सकता है।

प्रबंध का घटोत्कच पर्व, जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह सर्ग भीमपुत्र घटोत्कच के बल और वध से संबंधित है, और जैसा कि समर पर्व कर्ण की सैन्य शक्ति की भव्यता; संकटग्रस्त कर्ण तथा कृष्ण के बीच धर्म-अधर्म को लेकर हुये वाद-विवाद, और केशव के संकेत पर अर्जुन के तीर से कर्ण के घायल होने की कथा से जुड़ा सर्ग है।

और महाकाव्य का तेईसवां सर्ग पंचता पर्व है यानी कर्ण के देहत्याग के समय की कथा का सर्ग, जिसे कर्ण की दूसरी भार्या वृषाली के सम्मुख दूत द्वारा प्रस्तुत है। इस तरह प्रस्तुत महाकाव्य के सर्ग-शीर्षक ही कर्ण की सम्पूर्ण जीवनकथा कभी अभिधा, तो कभी लक्षणा से बताने-कहने में सक्षम हैं।

'कर्ण महाकाव्य का अन्तर्लोक' में आलोचक कश्मीरा सिंह ने प्रबंध के चंद्रातप पर्व के विश्लेषण के क्रम में ठीक ही लिखा है कि महाकाव्य के सर्ग-शीर्षक कर्ण के सम्पूर्ण जीवनकथा को व्यस्थित रूप में कहने में पूर्णतः समक्ष हैं।

महाकाव्य के चरित्र

भारतीय काव्यशास्त्रियों के महाकाव्य के नायक पर विशिष्ट रूप से विचार करते हुए लिखा है कि महाप्रबंध के नायक का उच्च कुल से संबंध होना आवश्यक है। बाकी अन्य शील-संबंधी विशेषताओं पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि महाकाव्य का नायक उच्च कुल में उत्पन्न होने के अतिरिक्त उसका धीरोदात्त होना आवश्यक है। धीरोदात्त अपने में दो-तीन गुणों का ही योग नहीं, बल्कि उसका विनीत, मधु, त्याग, दक्ष, प्रियंवद, प्रज्ञावान, स्मृतिसंपन्न, उत्साही, शूर, तेजस्वी, दृढ़, शास्त्रज्ञ, धार्मिक होना भी आवश्यक है। आचार्य धनंजय और आचार्य विश्वनाथ ने कम-से-कम ऐसा ही माना है।

डॉ. अमरेन्द्र के सामने महाकाव्य के नायक को लेकर भारतीय या पाश्चात्य मत के प्रति कोई पूर्वाग्रह नहीं रहा है। फिर भी भारतीय मतों के प्रति इनका झुकाव तो देखा ही जा सकता है।

कर्ण महाकाव्य का नायक रश्मिरथी के नायक से भिन्न है। डॉ. अमरेन्द्र का काव्य-लक्ष्य कुलहीन होने के कारण कर्ण की प्रतिभा का अपमान-उद्घाटन नहीं है, इसी से कुलीनता-अकुलीनता की समस्या यहाँ पहले नहीं है। यहाँ कर्ण उच्चवंशी ही है। महाकाव्य में सूर्य स्वयं अंगनरेश अधिरथ की पत्नी राधा से कहते हैं :

‘‘किस तरह से गर्भ में सेती रही वह अंश मेरा
जो तुम्हारी गोद में है खेलता अवतंश मेरा !
यह जो शिशु की देह पर है कवच; कुण्डल कान में भी
क्या कभी सोचा है इस पर, क्या कभी कुछ ध्यान में भी।

"ये कवच-कुण्डल मेरी ही दी गई पहचान समझो,
यह पृथा का पुत्र ही है, तुम जिसे सन्तान समझो;

—पृष्ठ २३

कवि अमरेन्द्र के महाकाव्य का कर्ण देववंशी-उच्चवंशी ही है और यही कवि को स्वीकार भी है। प्रथम सर्ग 'जनुष पर्व' में कुंती मंजूषा में पड़े प्रवाहित हो रहे अपने शिशु के लिए व्याकुल होती है, तो नदी में प्रवाहित हो रहा वह शिशु कुंती को इस रूप में दिखता है :

ले रहा शिशुरूप, फिर किलकारियाँ हैं,
गीत मंगल गा रही-सौ नारियाँ हैं ।
अंग ज्यों कंचन तपा-सा बहुत दपदप,
कर रहा है लघु करों से वारि छपछप ।
भोर आँखों में जगा हो, रात सर पर,
गौर से देखा पृथा ने फिर ठहर कर;
लघु चरण ऊपर उठाता, फेंकता है,
और करवट लेके नीचे देखता है ।
गुरु, विभाकर, सूर्य सब आगे हुए हैं,
कर-चरण के भाग्य सब जागे हुए हैं;
बह रहा है स्वर्णतरी पर; हो हिंडोला,
देख, मन का हर्ष कुन्ती ने टटोला ।
देखती है क्षीर-सिन्धु दधि-उदधि है,
दधिसुता, दधिसुत वहाँ, कुछ और यदि है ।
वृष्टि केशर की, खिला अम्बर कमल-सा,
हो गया हो व्योम कंचन के महल-सा ।

—पृष्ठ १२

सूर्य से कर्ण भी अपने देववंशी होने की बात सुन चुका है और इसके बाद भी अगर वह कहता है :

"क्यों पड़ूँ मैं इस द्विधा में, इस कथा में,
कौन-सा आनन्द बसता इस व्यथा में ?
मैं तो हूँ राधेय, अधिरथपुत्र हूँ मैं,
बस इसी पहचान से सर्वत्र हूँ मैं।"

—पृष्ठ ३५

कर्ण कुल-वंश की कुलीनता-अकुलीनता से मुक्त है लेकिन प्रकृतिपुत्र और

पीड़ित समाज के दुखों से अनभिज्ञ नहीं, इसीसे तो वह केशव से कहता है :

'क्या किया अपराध मैंने, जो लड़ा जनपक्ष में ?
योजनों तक फैले विस्तृत वन सघन के रक्ष में ?
क्या सिंहासन लोक-रक्षा का नहीं संकल्प है ?
आप कहिए, अपने मुँह से, अब समय अति अल्प है।
'क्या यही अपराध मेरा, जो लड़ा वन-जन लिए,
राज का यह धर्म होता, मानिए न मानिए।
नृप का क्या धर्म केवल, राज्य जीते, यज्ञ हो ?
क्या भला उस देश का हो, जब मुकुट ही अज्ञ हो।
'सोचिए केशव, उजड़ते ही रहे वन-जन अगर,
क्या कभी रुकने को है, कल-आज का ही यह समर?
कर्ण का यह शीश-छेदन; प्रश्न का क्या अंत है ?
वन-जनों का जो विरोधी, क्या वही कुलवंत है ?
'सौंपिए अब राजगद्दी यह सभी कुछ पार्थ को,
मारिए, जो भी खड़े हैं रक्ष में, उन आर्त को;
'और भी कुछ है निवेदन, मानिए न मानिए,
वंश से जो दीन है, केशव, उन्हें पहचानिए।
'पर्वतों की नींव में हलचल हुई, तो शांत क्या,
रह सकेंगे शिखर कहिए, रह सकेंगे प्रांत क्या ?
जाति से, जो हीन उनका जल्द ही उद्धार हो,
उनके कुल में भी कभी भगवान का अवतार हो ।'

—पृष्ठ २४८-२४९

आलोच्य महाकाव्य का कर्ण भले दलित कुल का नायक नहीं, वह देवकुलवंशी वह नायक है जो उपेक्षित दलित वर्ग के प्रति असीम संवेदना रखता है और उसका संवेदनशील व्यक्तित्व उसे उस अर्जुन के विरोधी बता देता है, जो राज्य-विस्तार के लिए उस खांडव वन को खाक कर देता है, जो जनजाति नागवंशियों का शरपास्थल है और जिस वनदाह के कारण नागकुल में एक दो प्राणी ही बच पाते थे। इसी जनसंहार और प्रकृति-विनाश के कारण वह मांडवों के विरुद्ध होता है और दुर्योधन द्वारा ठाने गये युद्ध में शामिल हो जाता है, अन्यथा वह शूरवीर और पराक्रमी होने के बावजूद युद्ध के पक्ष में नहीं। इस बात की जानकारी हमें घटोत्कच पर्व से मिलती है। अर्जुन के तीरों से छिदा भीष्म का सेनापतित्व-काल समाप्त हो गया है और अब कर्ण के ऊपर सैन्य-संचालन का भार है लकिन कर्ण में युद्ध के लिए वह

उत्साह नहीं। दुर्योधन की जिज्ञासा और प्रश्नों का उत्तर देते हुए कह कहता है :

''बचा है कौन-सा भूभाग पूरब का, कहो तो,
लहू से अंग ही क्या, रक्त रंजित है कलिंग तक;
अंधेरे में भटकते शावकों पर हिंस्र पशु की
लगी हो आग जंगल में ही, ऐसी, आँखें भक-भक ।
''पिरामिद शूरमाओं का लगा था आज भारत,
मुझे डर है, कहीं भारत में ऐसा हो न जाए;
दिवस का दीपता सूरज उठा यह तमतमाता,
सदा के वास्ते ही यह तमस में खो न जाए !
''नहीं यह बात केवल पूर्व की है, मित्र मेरे,
यहाँ तो मध्य से पश्चिम क्षितिज तक रक्त लथपथ;
भयानक लग रही हैं डाकिनी-सी सब दिशाएं,
गगन या वारि, वायु, भूमि, पावक, कौन संयत ?
''हुआ है जिस तरह से रिक्त भारत शूरबल से,
बनेगा कौन रक्षक संकटों में ? देवता क्या ?
मिला जो पुण्य बल से तेज, हमसे छुट रहा है,
पता जिसका नहीं अब तक चला, उसका पता क्या ?

—पृष्ठ २२२-२२३

वह दुर्योधन से साफ-साफ कहता है :

''पड़ा था क्या, अगर जो राज आधा बाँट देते,
रही हैं भूमि किसकी किन युगों में क्रीत दासी ?
शवों के राज पर ही मित्र क्या शासन करोगे ?
सिंहासन, राजसत्ता, राजभोगों के विलासी ।
''पुते सिन्दूर, फूटी चूड़ियों, सित माँग दपदप।
सजाया जा रहा कुरुराज में यह लोक कैसा ?
भला क्यों पूछते हो मित्र मुझसे, मैं दुखी क्यों ?
घड़ी जब हर्ष का हो, ये घुमड़ता शोक कैसा ?

—पृष्ठ २२३

तथ्य को और भी स्पष्ट करते वह कहता है :

''अगर था बैर मुझको, पार्थ से था, जानते हो,
नहीं विध्वंश ऐसा लोक का मैं चाहता था;
कहीं कुछ चूक तो मुझसे हुई है, मानता हूँ,

धरा नृपहीन होगी इस तरह से, क्या पता था ।

—पृष्ठ २२३

जहाँ तक आलोच्य महाकाव्य के कर्ण के विनीत, मधुर, प्रियंवद होने की बात है, यह तो हम महाकाव्य के तृतीय सर्ग से ही देखना शुरू कर देते हैं जो प्रबंध के तेईसवें सर्ग तक एक रस रहते हैं। यह अलग बात है कि किसी पर्व में किसी एक गुण की प्रमुखता है, तो अन्य सर्ग में अन्य की। दैसे देखा जाए, तो प्रियंवद होना, मधुर होना और विनीत होना कोई बहुत अलग-अलग गुण नहीं। जो मधुर होगा, वह प्रियंवद होगा ही और जो विनीत नहीं, वह प्रियंवद कैसे हो सकता है! अपने इन्हीं गुणों के कारण वह न केवल अपने गुरु परशुराम का सवोत्तम शिष्य बन पाता है बल्कि अपनी भार्या का भी कंठहार है। महाकाव्य के वन पर्व और गिरिडीह पर्व में भार्या के साथ के संवाद इसके उदाहरण हैं। अपने इसी गुण के कारण वह महाकाव्य के किसी पात्र को अश्लील बातें नहीं कहता—जैसे उसके कथन पर विवेक का पहरा हमेशा बना रहा है। रामधारी सिंह दिनकर के काव्य 'रश्मिरथी' का कर्ण अपनी माँ से बातें करते जिस तरह कटु शब्दों का प्रयोग करता है, वैसा कर्ण-महाकाव्य का कर्ण नहीं। देशकाल-प्रसंग दोनों काव्य के एक ही हैं लेकिन संवाद में शील को लेकर दोंमों पात्र अलग हो जाते हैं। देखें :

''क्या इतनी-सी बात भीष्म भी नहीं समझते,
कृपाचार्य या विदुर महापंडित के रहते !
मन में तो आया यह कह दें बिना छुपाए,
बड़े हितैषी, जो पांडव के सम्मुख आए।
''जो पांडव पर दया द्रोण को बढ़ कौरव से,
दे देते क्यों नहीं, लिया जो राज्य द्रुपद से ?
लेकिन चुप रह गया बड़ों का मान बचाए,
तब भी मैं चुप रहा, वहाँ जब संजय आए।
''आए, तो बस यही कहा उस भरी सभा में,
धौंस भरी वाणी में सब कुछ पार्थ-प्रभा में ।
कहा, 'कर्ण से कहने ही भेजा है मुझको,
(कुछ ऐसे कि पड़े सुनाई सब कुछ सबको)
'मन्द बुद्धि के सूतपुत्र का काल निकट है,
पांडव का बल रोके रखना बहुत विकट है ।'
''सुनते ही यह वचन शिराएं फूल गई थीं,
नीति-प्रीति की मालाएं खुल झूल गई थीं ।

''लेकिन स्वयं को रोका, जी को नहीं हिलाया,
हिल जाती धरती ही सारी । धर्म निभाया;

—पृष्ठ १७२-१७३

विचलित हुआ कर्ण, तन सिहरा; कंपित हो लघु शैल,
वर्ण श्याम पड़ गया अचानक, ज्यों विधु पर तम-मैल;
बोला ''माँ तो क्षीर नदी है, नर को है वरदान,
यह जानूँगा मैं तब ही, जब बोलेंगे भगवान ?
''माँ ही सागर, धरा, अग्नि है और पवन-आकाश,
माँ के बिना कहाँ है सृष्टि, गंध, शब्द और प्यास !
पुत्र नहीं वह, इस रहस्य का जिसको ही न ज्ञान,
माँ के ऋण से उऋण हुआ कब नर दे कर सर-दान ?
''माँ ही मोक्ष है इस धरती पर; माँ, तो क्या भगवान,
एक जननि के पुण्य बराबर कोटि-कोटि संतान !

—पृष्ठ २००

अमरेन्द्र के महाकाव्य का कर्ण न तो भीष्म के लिए कोई अनुचित शब्द का प्रयोग करता है, जिस भीष्म ने कर्ण को अर्द्धरथी से अधिक कुछ नहीं माना था और न प्रतिपक्ष के नायक रक्षक केशव के लिए ही कुछ कटु शब्द निकालता है। यह अलग बात है कि केशव के द्वारा निराधार कर्ण पर अधर्मी होने के आरोप पर वह मौन नहीं रहता, उसका तथ्यपूर्ण, तर्कपूर्ण उत्तर भी देता है, लेकिन उसमें केशव के प्रति असम्मान का भाव कहीं भी नहीं, वह ही भाषा की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता।

महाकाव्य के मकर पर्व में जब कर्ण केशव के आरोपों का उत्तर दे रहा होता है, तब उसके संवादों से उसके स्मृत्तिसंपन्न होने का भी पता चलता है ।

कर्ण की यह स्मृतिसंपन्नता महाकाव्य के विभिन्न सर्गों में देखी जा सकती है और कि जो महाकाव्य के घटोत्कच पर्व और मकर पर्व में सघनता से उपस्थित है। गिरिडीह पर्व में एक शाप का स्मरण और फिर अन्य पर्व में घरती के शाप की स्मृति इसकी स्मृतिसंपन्नता के ही उदाहरण हैं।

कर्ण महाकाव्य का कर्ण सिर्फ यही नहीं कि :

''यह मेरा सुत कर्ण, गुणों का कोश-व्योम है मुनिवर,
निज कर्मों से सूर्य, वचन से शरद-सोम है, मुनिवर!
गुरु की सेवा, होम-जाप, सब विद्या का अनुरागी,
क्या अतिथिपूजन ही प्रिय है? यह निष्काम विरागी ।

''ब्रह्मचर्य के सारे सदगुण देखा खिलते, इसमें,
भव्य त्रिपुर में जो कुछ सुन्दर, सब मिलते हैं इसमें;
यहाँ आपकी छाया में पाए प्रकाश यह, ऋषिवर,
सब कुछ झेल चला आया हूँ लिए आश यह, ऋषिवर।
''वेदों का ही नहीं, अस्त्र का मेरा सुत हो ज्ञाता,
निज भविष्य और बाहु-भाग्य का अब से बने विधाता!
क्षत्रिय है तो छात्र धर्म भी इसमें दिखे अनल-सा,
दान-दया के साथ-साथ ही हो शरदेन्दु विमल-सा।''

वह दक्ष है, शूर है, तेजस्वी है, दृढ़ है, तो अस्त्रविद्या से संपन्न है और इसके यही गुण इस महाकाव्य के मुख्य वीर रस के निर्वहन में अद्भुत ढंग से सहायक हैं। कर्ण की दक्षता की एक झलक घटोत्कच सर्ग में भी प्रकट है जब महाभारत में कौरवों को दहलाता आतंक का केन्द्र बना हुआ है, तब कर्ण के द्वारा उसके संहार का दृश्य इस तरह वर्णित है :

रुका, देखा क्षितिज के छोर पर वसुषेन ने कुछ,
तमस के बादलों के बीच उड़ता एक पर्वत;
दिखा वटवृक्ष-सा, जो है गगन को नापता-सा
जिधर से वह गुजरता था वहीं का देश अवनत।
उड़ाए जा रहा है भूमि पर के दुर्ग सारे,
दिशाएं काँपती थर-थर, गगन पट-सा सिहरता;
प्रलय के काल में ज्यों काल सारी शक्ति लेकर
पवन की छाती पर चढ़ कर दिशाओं में विचरता।
लगा यूँ कर्ण को, वह आ रहा हो गति उड़ाए,
उसी की ओर ही मतहीन हो मतिभ्रष्ट होकर;
लगाएगा अभी ब्रह्मांड को वह क्रोध में आ
अपरिमित शक्ति लेकर सृष्टि भर की, एक ठोकर।
हँसा वसुषेन यह सब देख, तत्क्षण फिर सँभल कर,
उठाया हाथ अपना, और फेंका व्योम पर कुछ;
बहुत काँपा क्षितिज, जल, व्योम, पावक और मारुत
लुढ़कता जा रहा है शैल-सा तम तोम पर कुछ।

—पृष्ठ २९-३०

यहाँ कर्ण कितना शूर है, तेजस्वी है, इसका कथन कवि स्वयं नहीं करता बल्कि कृष्ण से कराता है ताकि उसकी शूरता और तेजस्विता की चमक और भी

सघन हो सके। कुछ अनुबंध द्रव्यव्य हैं :

(क) ''जानता हूँ इस समय रविसुत गहन में,
शोक है वृसषेन सुत का, वीर अतुलित;
पर व्यथा को; ज्यों सघन घन को प्रभंजन,
है उड़ाए जा रहा ही कर्ण का मन ।
''गात्र कैसा ? अग्नि जिसको छू न पाए !
हो रहे भूकंप; इस्थिर और पर्वत !
धूमध्वज टकरा रहे हैं; गगन निश्चल !
फट रही ज्वालामुखी, पर सिंधु शीतल !
''कर्ण का जब शंख गूँजेगा समर में,
कौरवों में सिंधु की लहरें उठेंगी,
मृत्यु नाचेगी करोड़ों चरण ले कर,
काँप जायेगी धरा, काँपेंगे भूधर ।

(ख) ''यह कोई जाने न जाने, जानता हूँ,
वर्ष तेरह किस तरह से हैं बिताए,
जब रहे वनवास में छुपते युधिष्ठिर,
कर्ण-भय से रह सके क्या कभी इस्थिर ?
''कर्ण का बल, कर्ण का रथ, कर्ण-आयुध,
पांडवों का तेज ठहरेगा कहाँ पर !
पार्थ यह तो कौरवों का कृष्ण ही है,
बात कुछ भी हो कहीं से; एक आशय ।
''यह नहीं है भीष्म, जिसका मन बँटा हो,
एक तन से, एक मन से कौरवों का;
जब तपेगा जेठ का सूरज शिखर पर,
क्षुब्ध बेहद हो उठेंगे व्योम-सागर ।
''जल उठेगा बादलों का राज्य धू-धू,
उड़ चलेंगे रेत बन कर भीम पर्वत;
क्या सहज वसुषेन-रथ को रोकना है ?
यह तो जैसे रुद्र को ही टोकना है ।

इस महाकाव्य का कर्ण जितना युद्धवीर है उतना ही दानवीर भी और उतना ही धर्मवीर भी। कर्ण की युद्धवीरता को समझने के लिए तो प्रबंध का मकर पर्व ही

काफी है। उसके अदम्य उत्साह और वीरकर्म को इन पंक्तियां से पहचाना जा सकता है :

रणभेरी का नाद उठा, तो गूँजे गगन-दिशाएं,
पर्वत-वृक्ष लगे; अभिनन्दन में ज्यों हाथ हिलाएं ।
एक दिव्य रथ वही खड़ा था, कर्ण तुरत चढ़ आया,
धवल चंद्र-सा शंख उठाकर घन-सा उसे बजाया ।
भरा सृष्टि का विवर गूँज से महाघोष के बल से,
कौरव के दल पुष्कर में दिखते उत्फुल्ल कमल से ।
और स्यंदन पर फहराती उत्तम श्वेत पताका,
रथ के ऊपर जमी पिघलती दिन में ही ज्यों राका ।
श्वेत अश्व हैं जुते हुए; सदगुण की भीड़ जमी हो,
कुछ भी ऐसा वहाँ नहीं था, जिसकी लगी कमी हो ।
श्वेत पताका पर फण काढ़े चिन्ह नाग का अंकित,
खांडव वन के नागवंश की कथा समूची व्यंजित ।
कवच, शक्ति, तरकश से सज्जित, वाण, धनुष, तोमर से,
निकला है ज्यों महाप्रलय ही शून्य विवर के घर से ।
कहा कृष्ण ने, ''पार्थ जरा देखो तो कर्ण-कला को,
व्यूह सैन्य का करता है भयभीत व्योम-अचला को ।

—पृष्ठ २३२

इसी तरह पुनर्नव पर्व प्राणदान पर्व में उसके उदात्त त्याग को देखा जा सकता है, जहाँ वह न इन्द्र को ही खाली हाथ लौटने देता है और अपनी माँ को भी निराश नहीं करता। उसके दान और त्याग का चरम तो तब दिखता है जब मरणासन्न अवस्था में भी कृष्ण को दान में अपने स्वर्णदंत को सामने पड़े पत्थर से तोड़कर दे देता है :

लीजिए यह दंत ।' ''जैसे ही कहा, मैं क्या कहूँ,
ले लिया पत्थर वहीं पर जो पड़ा; दुख में दहूँ।
तोड़कर अपनी हथेली पर लिया था और फिर,
माधवन के आगे कर अर्पित किया था और फिर ।

—पृष्ठ २५४

धर्म के जो लक्षण हैं, यानी, दया, दान, तप आदि, उसके प्रति समर्पण और पालन का उत्साह ही धर्मवीर का स्वभाव होता है, जो कर्ण में सघनता के साथ यहाँ चित्रित है। यहाँ इस ओर संकेत कर देना आवश्यक होगा कि चीर-हरण के अवसर

पर कर्ण का मौन रह जाना, उसकी धार्मिकता, उसके वीरत्व पर प्रश्न की तरह उभरता रहा है, तो प्रस्तुत महाकाव्य में कर्ण इस आरोप का खंडन करते हुए कहता है कि जिस समय द्रोपदी को सभा में लाया गया था, मैं वहाँ होकर भी कहाँ था। मैं तो अपनी संपूर्ण चेतना के साथ उस स्वयंवर में पहुँच गया था, जब द्रोपदी से अपमानित होकर विचलित हो रहा था। सभा में होकर भी मैं सभा में नहीं था और जब वह चेतन हुआ था, तब केशव द्रोपदी को लेकर सभा से जा चुके थे :

''जहाँ तक बात है मेरी, उसे कहना जरूरी,
बिना उसको कहे तो सब कहा समझो अधूरी ।
मुझे क्या हो रहा था, तब तुम्हें वह क्या बताएं,
कहाँ से किस तरह से उसे विगत को ले उठाएं ।
''पड़ी जब दृष्टि कृष्णा पर, पुराने घाव उभरे,
उभर आए, स्वयंवर में सभी वे भाव उभरे—
कहा कृष्णा ने क्या था, जब उठाया था धनुष को,
कभी मैं भूल ही पाता नहीं हूँ तनिक उसको ।
''दुशासन ने उसे जब खींच कर लाया यहाँ था,
तुम्हें मैं क्या बताऊँ, मैं स्वयंवर में वहाँ था !
हँसे अधरों में जब थे, द्रोण ही क्या, भीष्म तक भी,
नहीं केवल युधिष्ठिर और अर्जुन; भीम तक भी ।
''कहा था 'सूतवंशज' द्रोपदी ने कर्ण को ही,
समझ सकते हो कितना कठिन होगा काल द्रोही,
मुदा वह भी सहा था, कर्ण सहने के लिए है,
कहा कुछ न किसी से मुँह-अधर अपना सिए है ।

—पृष्ठ ११६-१२०

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यक्ति चेतना से जहाँ होता है, वह दूसरे स्थान पर होते हुए भी वहाँ नहीं होता :

''तुम्हें भी ज्ञात है, यह मन जहाँ होता प्रबल है,
वहाँ क्या इन्द्रियों का एक भी खिलता कमल है ?
सभी कुछ सामने होते मुदा होता नहीं कुछ,
जिधर जो चाहता मन है, वहीं पर तो सभी कुछ ।

—पृष्ठ ११८

और जहाँ तक कर्ण की दृढ़ता की बात है, वह हम काव्य के उस प्रसंग से भी समझ सकते हैं, जब केशव भीष्म के सेनापति बने रहने तक पांडव की ओर से

युद्ध-संचालन की बात करते हैं और कर्ण इस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। वह कौरव के साथ किसी तरह का छल नहीं करना चाहता। लेकिन कर्ण के चरित्र की उदात्तता इन्हीं गुणों के कारण से नहीं है।

कोई भी महान कृति अपने समय से कट कर नहीं रह सकता, न इसके पात्र। कर्ण का चरित्र इस महाकाव्य में इसलिए भी भव्य बन पड़ा है कि वह प्रकृति का उतना ही अनन्य पुजारी है, जितना वनवासियों का। कुल मिलाकर आधुनिक समाजशास्त्र की भाषा में कहें, तो कर्ण प्रबंध का नायक पर्यावरण का संरक्षक है, जिसकी झलक पहले तो हमें संक्रांति पर्व में मिलती है, फिर यह बात खुलती है कि कर्ण को अर्जुन से वैर है, तो किसी और कारण से नहीं बल्कि इसलिए कि उसने राज्य-विस्तार के लिए खांडव वन के साथ उसके वनवासियों को जला दिया है, इसी कारण वह अर्जुन को किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहता । कर्ण का यह व्यक्तित्व उसे एकदम आधुनिक समय से जोड़ता है और प्रासंगिक भी बताता है। कहना न होगा कि प्रबंधकार अमरेन्द्र ने महाभारत काल के कर्ण का आकार आधुनिक देश-काल की भूमि पर ही तैयार किया है। प्रज्ञा पर्व में गुरु की बात करते हुए वह आधुनिक शिक्षा के मुखौटे को भी खोलता है। इसी से यह कहना गलत नहीं होगा डॉ. अमरेन्द्र का कर्ण जितना पौराणिक है, उतना ही आधुनिक भी :

आँखें बंद हुई पल भर को, नभ की ओर निहारा,
भीगे मन से पृथापुत्र ने रवि को निरख पुकारा
देखा, उतर रही हैं किरणें, नीली, पीली, रक्तिम
हरी, बैगनी, नारंगी, आकाशी—गाढ़ी, मद्धिम,
धाता, मित्र, वरुण, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा,
उतर रहे हैं उसके मन में विष्णु रूप धर स्रष्टा;
उसके सर पर उषा, प्रभा, छाया का छायातप है,
होने लगा हृदय में उसके पिंगल अजपाजप है।

—पृष्ठ ६२

सूर्य

कर्ण महाकाव्य का सूर्यं लौकिक पुरुष होने के साथ-साथ अलौकिक मिथकीय पुरुष भी है और इस तरह दोनों के ही योग से कवि अमरेन्द्र ने अपने प्रबन्ध काव्य के देवपुरुष सूर्य का रूप गढ़ा है। यूं तो काव्य के आरम्भ में ही इस अलौकिक पुरुष का दर्शन होने लगता है लेकिन इनके रूप तो द्वितीय सर्ग के आरंभ में ही

दिखता है जब उन्हें अपने सामने प्रत्यक्ष देखकर राधा बोल पड़ती है :

"देवता हे रश्मियों के, रश्मियों के देहधारी,
कौन हैं, क्या काम है, मुझसे हुई क्या भूल भारी?
केश स्वर्णिम, भौंह स्वर्णिम, रोम स्वर्णिम,
रश्मियों-सी मूँछ-दाढ़ी, देह; जैसे, व्योम स्वर्णिम ।

—पृष्ठ १९

बीज पर्व में भी कर्ण को जो दिखता है, उसमें उसे किसी अलौकिक सत्ता का ही आभास होता है :

देह में जैसे प्रकट हों देव सारे,
सारी ऋतुएं ही प्रकट उसके सहारे;
घाम, वर्षा, शीत संग मधुमास जिसमें,
शरत का, हेमन्त का कलहास जिसमें ।
जुगनुओं से झूलते; ज्यों, काल सब थे,
चित्र से अंकित लगे दिकपाल सब थे;
मुँद गई हैं कर्ण की आँखें विभा से,
दीप्त हैं पूरा सघन वन ही प्रभा से ।

—पृष्ठ ३२

महाकाव्य में सूर्य का जैसा रूप-विधान है, वैसा ही उनका आंतरिक व्यक्तित्व भी उसी उदात्तता में चित्रित्र है।

शिशु कर्ण को मंजूषा में प्रवाहित कर कुंती अपनी संपूर्ण वेदना को समेटती, जैसे-तैसे राजभवन लौट आती है, लेकिन पिता सूर्य शिशु का साथ नहीं छोड़ते, वह अपने अश्व पर सवार हो, धार पर मंजूषा में प्रवाहित हो रहे शिशु कर्ण को देखते हुए साथ-साथ बढ़ रहे थे और यह देखते ही कि शिशु अब सब तरह से सुरक्षित है, इसे बताने और कुंती को सब चिंताओं से मुक्त करने उसके निवासस्थल तक पहुँच जाते हैं। मध्य रात्रि में शिशु के साथ चल रहे सूर्य का ज्ञान हमें शिशु के साथ ही रक्षा में चल रहे प्रहरी से होता है :

"कौन था वह रात भर चलता रहा था ?
गति मरुत की नापते बहता रहा था;
रश्मियों को दूर तक आगे बिछाए,
इस तरह कि सब दिखे, वह दिख न पाए।"

—पृष्ठ १४

लेकिन इस संवाद से भी कुंती की पीड़ा कम नहीं हो पाती, जिस पीड़ा

का देखकर ही प्रहरी से लेकर सेविकाएं तक वहाँ से हट जाती हैं और उनके हटते ही वहाँ सूर्य उपस्थित होते हैं, जिनके अलौकिक रूप की तरह स्वर भी संगीतपूर्ण पीयूषसिक्त है :

पत्तियों से फूटता संगीत जैसे
गूँजते हैं स्वर किसी के मंद्र लय से ।

—पृष्ठ १७

इस तरह लौकिक जगत में एक पति के रूप में सूर्य का यह उदात्त चरित्र अनुपम है। सूर्य का रूप काव्य में जिन-जिन स्थलों पर दिखता है, वहाँ-वहाँ वह मन को बांधता चला जाता है। यहाँ तक कि जब वह राधा के समक्ष पुरुष की काम भावना के आवेग के सामने अपनी निर्बलता और कुंती की नारी जनित कोमलता को रखते हैं, वहाँ भी कुंती के प्रति जो अगाध अनुराग पकट रहा है, वह इसके पूर्व हिन्दी काव्य में शायद ही उपलब्ध हो। अपने शिशु से अलग हुई कुंती की पीड़ा को यहाँ सूर्य जिस तरह व्यक्त करते हैं, वह उनके एक साथ सच्चे पति और पिता का खुला प्रमाण है :

पिता और गुरु रूप में सूर्य

एक अलौकिक पात्र के रूप में सूर्य तो आदि से लेकर प्रबंध के अंत तक कमोवेश छाये हुये हैं लेकिन इसके बाद इस पात्र का पिता और पतिवाले रूप ही सर्वाधिक आकर्षित करते हैं। पिता के रूप में वह जो कुछ भी प्रारब्ध सर्ग में अधिरथ प्रिया राधा से कहते हैं या फिर बीज पर्व में कर्ण से ही, उसमें उनके हृदय का वात्सल्य का जो उदात्त रूप प्रकट है, वह किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को द्रवित कर देने के लिए काफी है।

शिक्षक के रूप में भी वह जिस तरह कर्ण के लिए आशीष के वचनों से प्रेरित करते रहते हैं, वह पिता के रूप में उनके वात्सल्य से ही प्रेरित भाव है :

''ब्रह्म के ही तेज से सम्पन्न हो तुम,
ब्रह्म के ही तेज से उत्पन्न हो तुम;
कर्म से और वंश से तुम क्षत्रिय कुल के,
लाल हो तुम संत अधिरथ के दुकुल के ।''

—पृष्ठ ३०

इसी तरह एक शिक्षक के रूप में वह नैतिक और सामाजिक मूल्यों का पाठ कर्ण के समक्ष रखते हैं, वह सूर्य को श्रेष्ठ गुरु बताने के लिए काफी है। यहाँ

स्मरण रखना चाहिए कि सूर्य का ज्ञान सामयिक यथार्थ से कुछ अधिक जुड़े होने के कारण सूर्य को पूर्णतः अलौकिक होने से बचाता है। कर्ण को राजधर्म की शिक्षा देते सूर्य जब यह कहते हैं :

''सृष्टि की श्री-सम्पदा होगी चरण पर,
देवता रीझे तुम्हारे आचरण पर;
पर कभी जो भूल से भी भूल होगी,
तब कोई क्या शक्ति भी अनुकूल होगी ?
''इसलिए सुधि नीति की, न संग छूटे,
देवता के कर्म की लय जा न टूटे;
यह धरा संतप्त है अगिणत दुखों से,
जिसको भरना है तुम्हें सारे सुखों से ।
''वह जो सबसे दीन है और दलित है जो,
पर सुकर्मों से सुधामय ललित है जो;
उसकी रक्षा में तुम्हारे प्राण अर्पित,
जो मुझे था, कर दिया सारा समर्पित ।
''और जो आगे मिलेगा, साधना से,
माँ, पिता, गुरु की मिलित आराधना से;
अंग की पावन ये धरती हो समुज्जवल,
स्वर्ग के सुन्दर सरोवर में, ज्यों उत्पल ।
''भूमि, वन, नदियाँ, हवाएं सुख से सिहरे,
आज से न प्राणियों के प्राण हहरे;
अब तुम्हारी रश्मियाँ ही घेर ले जग,
हो जहाँ तक, उस जगह पर ज्योति जगमग ।
''हो निशा के वक्ष पर शशि पूर्णिमा का,
देवता-सा हो हृदय पुलकित अमा का ।
लौट आए सत्य का युग देह धारे,
उठ अतल से प्राण-आज्ञा के सहारे ।

—पृष्ठ ३१

तब यह नहीं लगता कि कर्ण महाकाव्य के सूर्य किसी अदृश्य लोक के अज्ञात रहस्यपूर्ण अस्तित्व हैं।

पति और पिता के रूप में कर्ण और कुंती के बीच अनुराग बनाए रखने के लिए प्रबंध में सूर्य की बार-बार की उपस्थिति उनके चरित्र को स्मरणीय बना गई

है। फिर जब कुंती महाभारत युद्ध के पूर्व कर्ण से मिलने चलती है, तो सूर्य कहाँ उपस्थित मिलते हैं।

फिर पिता के रूप में सूर्य तो कर्ण के हर्ष और दुख से स्थल-स्थल पर हर्षित-द्रवित होते हुये दिखते हैं :

सिहरा समीर, चटकी किरणें फूटे कुसुम समेत,
निद्रालस है भले नगर, पर गंगा कहाँ अचेत ।
रवि-ऊषा के चरण बढ़े, जागा कलरव का देश,
राग झिंझोटी के स्वर में है अब भैरव का भेष ।
जाने कब पूरब में उतरा रवि का रथ चुपचाप,
चम्पा के चेहरे पर अंकित नीलकंठ की छाप ।

—पृष्ठ १६६

उग रहा है सूर्य पूरब के क्षितिज पर क्रुद्ध,
रौंदता अपने पगों से रक्त-रंजित युद्ध।

—पृष्ठ २५६

लोकोत्तर का लोक रूप

अमरेन्द्र के महाकाव्य के सूर्य अपने लोकोत्तर रुप में जगह-जगह पर तो दिखते ही हैं, लेकिन जहाँ इस वैदिक देवता का रूप लौकिक पुरुष के रूप में चित्रित है, वहाँ मनुष्य की सीमाओं, कमजोरियों को स्वीकार करते सूर्य सहज मानव के रूप में ही दिखते हैं, इसी कारण यहाँ पाठक के साथ उसका सहजीकरण भी हो पाया है। मनुष्य ही दुर्बलताओं को बताते हुए सूर्य अपनी ही भूल को स्वीकार करते हुए कहते हैं :

''अंग की हे देवबाला, क्या कथा तुमसे बताऊँ,
और क्या विभु से छिपा है, आज जिसको मैं छिपाऊँ !
कब पृथा यह चाहती थी, हो कुँआरे में शिशु यह,
लोकलज्जा-हानि घर की, आयु का डर घोर रह-रह ।
''बहुत ही अनुनय किया था, लौट जाऊँ मैं वहाँ से,
मैं विवश रतिबद्ध, कैसे लौट जाता फिर वहाँ से;
रक्त की अठखेलियों से मैं हुआ वशीभूत था तब,
चित्त को अब जो डराता, मैं वही अवधूत था तब।
''तन गई थी रीढ़ तन की, एक बस आवेग हू-हू,
बुद्धि मेरी थी हवा पर, चेतना जलती थी धू-धू ।
शोर ऐसा हो गया था, सुन न पाया था रुदन को,

तोड़ आया था अभय बन शांति के पावन भवन को ।
"देह का यह आचरण सचमुच बहुत कुत्सित पतित है,
देवता के इस भयावह कर्म से दानव चकित है;
तब कहाँ था सूर्य मैं ही, जो तमस को लील लेता,
भाव मन में दौड़ता था सृष्टि का मैं ही विजेता ।

—पृष्ठ २१-२२

इसके बाद यह बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि कर्ण महाकाव्य के सूर्य अलौकिक रूपों से अलग एक अलग रूप में भी उपस्थित है। वैसे महाकवि जगह-जगह पर सूर्य के उन अवतारों को बताना भूलता भी नहीं :

और संग-संग रात भर वह जो चला था,
भोर होते व्योम से वह जा मिला था ।

—पृष्ठ १४

परशुराम

कर्ण महाकाव्य के परशुराम अपने त्रेतायुगीन क्रोध के कारण नहीं, अपनी समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक चिंताओं को लेकर यहाँ उदात्त चरित्र लेकर उपस्थित हैं। अगर यह कहा जाए कि कर्ण और कृष्ण के बाद कवि ने अगर किसी पुरुष पात्र को गढ़ने में अपनी प्रतिभा को अधिक सजग रखा है, तो परशुराम के चरित्र-निर्माण में ही।

यहाँ महाकवि ने परशुराम के व्यक्तित्व से उस अंश को बाहर कर दिया है, जो उनको वर्णाश्रम में विश्वास करनेवाला क्रोधी ब्राझण सिद्ध करता है। इसके पीछे के कारण को समझने के लिए दैनिक जागरण (भागलपुर) में प्रकाशित उनके आलेख को पढ़ना आवश्यक होगा, जिसमें धार्मिक प्रमाणों के आधार पर परशुराम को अंग प्रदेश का ऋषि सिद्ध किया है और मंद्राचल पर्वत, जोकि भागलपुर के दक्षिण में अवस्थित है, को महेन्द्राचत पर्वत। इनके अनुसार महेन्द्राचल ही घिस कर मंद्राचल हो गया है जिसे अंत में परशुराम ने अपना साधनास्थल बनाया।

अब अगर परशुराम अंगप्रदेश के ऋषि हैं और अधिरथ चंपा राज्य के राजा, तो क्या मात्र चालीस किलोमीटर की दूरी पर रहनेवाले महर्षि को अधिरथ या उसके पुत्र की जाति का ज्ञान नहीं था। यह तो क्षेपक की तरह ही लगता है और क्षेपक समझते हुए ही कवि ने इसे अपने महाकाव्य में स्थान नहीं दिया है।

फिर कवि मे अपने प्रबंध में परशुराम के मुँह से ही इसका संकेत करा दिया है कि उन्होंने क्षत्रियों का नाश नहीं किया, यह संभव भी नहीं; उन्होंने उस जाति

के अहंकार को कई बार जड़ से ही समाप्त करने का कार्य किया।

कर्ण महाकाव्य के परशुराम सच्चा योगी हैं, सच्चे शिक्षक और वत्सल भाव से भरे संन्यासी। मंद्राचल के जिस उपत्यिका पर उनका आश्रम बना हुआ है, वहीं यह सिद्ध करता है कि उनके जीवन और प्रकृति के बीच एक अभेद संबंध है।

कर्ण के परशुराम के चरित्र के तीनो पक्ष प्रबंध के मात्र पंचम सर्ग (प्रज्ञा पर्व) में बद्ध हैं और वह भी सिर्फ सड़सठ उपबंधों में।

एक संवाद के दौरान मैंने जब डॉ. अमरेन्द्र से यह पूछा कि आपको अपने परशुराम का कौन-सा पक्ष अधिक प्रभावित करता है, तो कुछ सोचने के बाद उन्होंने कहा था—आप परशुराम के चरित्र को कई रूपों में देखना चाहती हैं, यह विश्लेषण की सरलता को ध्यान में रखते हुए तो ठीक है, लेकिन मैं उनके विचारों-क्रियाकलापों को उनके वात्सल्य में ही सिमटा देखता हूँ।

जैसे कर्ण की हर शंका-जिज्ञासा का वह ख्याल रख रहे हों। इसे इस तरह समझा जा सकता है कि कर्ण के मन में गुरु द्रोण के प्रति जो कुछ शंका हैं, उसी का जैसे उत्तर है—परशुराम का जीवन और उनकी शिक्षा-संबंधी वे सारी बातें, जिसमें राजाश्रित शिक्षा और शिक्षक की कमजोरियों पर बहुत कुछ कहते हैं। इस तरह देखें, तो प्रज्ञा पर्व के अन्तर्गत शिक्षा संबंधी बातों का आना औचित्य से हटकर नहीं है।

जो हो, एक शिक्षक के रूप में परशुराम सच्चे शिक्षक के रूप में ही इस प्रबंध में उपस्थित हैं, जो शास्त्र से लेकर अस्त्र तक के महत्व को बताते हैं और फिर दुरुपयोग की संभावनाओं पर भी विचार करते हैं। लेकिन सब कुछ बताने और चेताने के पीछे कर्ण महाकाव्य के परशुराम के चित्त का वत्सल भाव ही प्रमुख रूप से प्रकट है।

जब कर्ण की शिक्षा पूरी होती है और उसके विदा होने के क्षण निकट हैं, तो उस समय वात्सल्य भाव से भीगे परशुराम का यह रूप मन को बाँध लेता है :

> ''देव-वंश जो न्याय-नीति के पथ का है अनुगामी,
> नर में नारायण के सारे दिव्य गुणों का स्वामी;
> उसकी ही रक्षा में अब से अस्त्र लगे ये सिद्ध,
> और नहीं तो लौट आएगा मुझसे हुआ समिद्ध।''
> परशुराम चुप हुए, कर्ण भी मौन, करुण था ऐसे,
> स्वर्ण शैल पर घिर आए हों मेघ पलों को जैसे ।

—पृष्ठ ५५

कृष्ण

कर्ण महाकाव्य में कवि का संपूर्ण ध्यान कर्ण के चरित्र-गठन पर ही अधिक कन्द्रित रहा है, इसी से इस महानायक के चरित्र में जिन नवीनताओं का संचार देखने को मिलता है, वह प्रबंध के अन्य पात्रों में नहीं, यहाँ तक कि कृष्ण का चरित भी यहाँ लगभग वैसा ही है, जो हमें महाभारत में प्राप्त होता है, वैसे इसमें भी कोई विवाद नहीं कि कवि ने महाभारत के कृष्ण को अवश्य उठाया है, लेकिन यहाँ कृष्ण नीतिज्ञ से अधिक सत्यवक्ता और संवेदनशील मानव के रूप में चित्रित हैं। कवि ने उनके देवत्व की रक्षा भी की है, लेकिन मनोविज्ञान की उपेक्षा करके नहीं। इस बात को हम महाकाव्य के प्रपंच पर्व से समझ सकते हैं, जहाँ से काव्य में कृष्ण का प्रवेश भी माना जायेगा।

अपनी प्रिया पुनर्नवी को पत्र लिखते कर्ण उस प्रसंग का उल्लेख करता है, जब दुर्योधन कृष्ण को बंदी बनाने की बात सोचता है। उस समय क्रोध के कारण कृष्ण का जो रूप वर्णित है, वह महाभारत से भिन्न नहीं है। देखिए :

''सुनते जागा क्रोध अनल-भव-तब केशव का,
लगा बदलने रूप काल-सा तब माधव का;
आँखों में जल उठी आग, बाहों में सागर,
गर्म उसाँसों की लपटें पूर्वा को पाकर ।
''ब्रह्मा झलका दिप्त भाल पर, रुद्र हृदय में,
कुरु का संशय हटा रहे, पर कुछ संशय में;
वाणी से ही बता गये सबको केशव यह,
'कैसे बड़वानल उगलेगा नील कमलदह ।
'लोकपाल, आदित्य, मरुदगण, असुर, यक्ष तक,
सब मुझसे ही संचालित हैं, इसमें क्या शक ।
मैं पांडव में, पांडव मुझमें, शक्ति-शिवालय,
पड़े अतल में क्या देखोगे तुंग हिमालय ?'

—पृष्ठ १७६-१८०

यहाँ तक कि कर्ण प्रबंध में कृष्ण के वचन भी महाभारत में आये उनके वचन से एक रूप हो कर चलते हैं। उपरोक्त प्रसंग में ही आये कृष्ण के कथन द्रष्टव्य हैं :

'कुल की रक्षा करनी हो, तो वहाँ पुरुष को,
और ग्राम की रक्षा में अपने कुल-कुश को ।
मुदा जहाँ हो बात देश की, वहाँ ग्राम को,
फिर अपनी ही रक्षा में इस सृष्टि-धाम को;

'त्याग चलें, तो इसमें कुछ भी पाप कहाँ है ?
न्याय-माप है यही, दूसरा माप कहाँ है ?
कर्ण-सुयोधन को बंदी कर पांडव को दे,
इन्हें छोड़ कुरुनन्दन कुल पर पाप न लादे !''

—पृष्ठ १८०

वह चाहे कर्ण को रथ पर बिठा कर समस्या को सुलझाने का प्रयास हो, या रण के आरंभ के साथ पांडवों को जोर से शंखनाद करने देने की सलाह देना—सब उनको महाभारत का कृष्ण ही बनाता है :

''पर सतत रहना पड़ेगा बहुत चौकस,
इस तरह कि कर्ण-कौशल दिख सके न;
जिस तरह से हो, लगे वह हीन सबसे,
बस यही कोशिश करें हम, आज, अबसे ।
''जब बजाए कर्ण अपने शंख को तो,
पांडवों के शंख गूँजे घोर घन-से;
इस तरह से कौरवों में भीत होगी,
जो हुआ यह, समझो पहली जीत होगी !

—पृष्ठ २१७

लेकिन युद्ध में कर्ण का सेनापति के रूप में आगमन तथा उसके सैन्य गठन से केशब का अभिभूत होना, प्रबंधकार की मौलिक कल्पना है और इससे कृष्ण के चरित्र में एक विशेष प्रकार की उदात्तता का संचार हो गया है :

कहा कृष्ण ने, ''पार्थ जरा देखो तो कर्ण-कला को,
व्यूह सैन्य का करता है भयभीत व्योम-अचला को ।
''समरभूमि में आ चंचल हो महामकर ही क्रोधित,
अग्रभाग में कर्ण, नेत्र पर शकुनि-उलूक ज्यों लोहित;
मध्यभाग में अश्वत्थामा, जलता भाल अनल हो,
कंठ-मध्य में दुर्योधन की सेना काल प्रबल हो ।
''वाम चरण में कृतवर्मा की सेना क्या उफनाती,
नारायणी उसी के संग में भय को है थर्राती;
मध्यदेशीय योद्धा का दल पिछला वाम चरण हो,
बड़ा कठिन लगता है, कैसे इसका शक्ति-हरण हो ।

—पृष्ठ २३२

प्रबंधकार ने प्रबंध में उन प्रकरणों-प्रसंगों को समेटने में चूक नहीं की है,

जो इनके चरित्र को असामान्य बनाते हैं। कर्ण की वीरता का बखान वह अर्जुन से किस खुले मन से करते हैं, वह देखने योग्य है :

''पार्थ, कर्ण सचमुच में अच्युत, इसको कौन डिगाए,
खड़ा हुआ है शैलराज, क्या अंधड़ इसे हिलाए !
''देखा नहीं, झपट कर कैसे धरा युधिष्ठिर को था,
सूख गया था धर्मराज के प्राणों का ही सोता,
और नकुल तो कोमल-सा पत्ता बन डोल गया था,
इस पर कैसा व्यंग्य कटीला रविसुत बोल गया था ।
''भले तुम्हारे वाण कर्ण के रथ को बहुत ढकेले,
और कर्ण के बाण हमारे तीन हाथ ही ठेले ।
तुम कहते हो, तीन हाथ पर 'वाह-वाह' क्यों बोलूँ ?
रविसुत के ही रण-कौशल पर अपना हृदय उछालूँ ?
''सोचो पार्थ, तुम्हारे रथ का कृष्ण सारथी जब है,
रथ के शीश-शिखर पर बैठा मारुतपूत अलग है;
तब भी कर्ण बाण से रथ को तीन हाथ तक ठेले,
ज्यों अबोध शिशु खेल-खेल में अट्ठा-गोटी खेले ।

—पृष्ठ २३५-२३६

इसी तरह कर्ण की दान वीरता के लिए कृष्ण के कथन उन्हें एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं। इस भाव को और भी रमणीय बनाने के लिए प्रबंधकार डॉ. अमरेन्द्र ने कर्ण महाकाव्य में एक विशिष्ट सर्ग कूटनीति पर्व का सृजन किया है, जो एक साथ कृष्ण और कर्ण को उदात्त रूप प्रदान करता है :

''जानता हूँ इस समय रविसुत गहन में,
शोक है वृसषेन सुत का, वीर अतुलित;
पर व्यथा को; ज्यों सघन घन को प्रभंजन,
है उड़ाए जा रहा ही कर्ण का मन ।
''गात्र कैसा ? अग्नि जिसको छू न पाए !
हो रहे भूकंप; इस्थिर और पर्वत !
धूमध्वज टकरा रहे हैं; गगन निश्चल !
फट रही ज्वालामुखी, पर सिंधु शीतल !
''कर्ण का जब शंख गूँजेगा समर में,
कौरवों में सिंधु की लहरें उठेंगी,
मृत्यु नाचेगी करोड़ों चरण ले कर,

काँप जायेगी धरा, काँपेंगे भूधर ।
''पार्थ ! यह राधेय, वैकर्त्तन, विजयधर
दानसुर ही क्या, वृषा, वसुषेन, रविसुत,
अंगभूपति, अधिरथी, राधेय भी है''
और मन में ही कहा, ''कौन्तेय भी है ।
''यह कोई जाने न जाने, जानता हूँ,
वर्ष तेरह किस तरह से हैं बिताए,
जब रहे वनवास में छुपते युधिष्ठिर,
कर्ण-भय से रह सके क्या कभी इस्थिर ?
''कर्ण का बल, कर्ण का रथ, कर्ण-आयुध,
पांडवों का तेज ठहरेगा कहाँ पर !
पार्थ यह तो कौरवों का कृष्ण ही है,
बात कुछ भी हो कहीं से; एक आशय।

—पृष्ठ २१०-२११

निसंदेह यहाँ पर कृष्ण के द्वारा कर्ण को कौरवों का कृष्ण कहना कुछ अत्युक्ति-सा लग सकता है, लेकिन कृष्ण अत्युक्ति में कैसे बोल सकते हैं। विश्लेषण करें तो लगेगा कि यह कितना सार्थक वचन है। कृष्ण और कर्ण दोनों की ही जन्मकथा में कुछ-कुछ समानता है, एक कारागृह में जनमते हैं और दूसरा राजभवन से कहीं दूर निर्जन प्रदेश में। एक यमुना के पार दूसरे गाँव में पलते हैं; कर्ण मंजूषा में बंद होकर चंपा पहुँचता है। दोनों अपने लिए युद्ध नहीं करते, एक पांडव के लिए, दूसरा मित्र दुर्योधन के लिए, दोनों तीर से घायल हो प्राण त्यागते हैं। क्या पता ईश्वर होने के नाते कर्ण काव्य के कृष्ण ने भविष्यवाणी ही कर दी हो इन पंक्तियों से। जो हो, अर्जुन की जीत के लिए कृष्ण युद्ध की सारी नीतियों को अपनाते हैं जो धर्म-अधर्म की सीमाओं से मुक्त हैं लेकिन युद्धभूमि में भी कर्ण की रणकला की प्रशंसा उनके चरित्र को लोकरंजक अवश्य बनाती है। देखे :

''भले तुम्हारे वाण कर्ण के रथ को बहुत ढकेले,
और कर्ण के बाण हमारे तीन हाथ ही ठेले ।
तुम कहते हो, तीन हाथ पर 'वाह-वाह' क्यों बोलूँ ?
रविसुत के ही रण-कौशल पर अपना हृदय उछालूँ ?
''सोचो पार्थ, तुम्हारे रथ का कृष्ण सारथी जब है,
रथ के शीश-शिखर पर बैठा मारुतपूत अलग है;
तब भी कर्ण बाण से रथ को तीन हाथ तक ठेले,

ज्यों अबोध शिशु खेल-खेल में अट्ठा-गोटी खेले ।

—पृष्ठ २३६

कर्ण की दानशीलता और आसन्न मृत्यु का खयाल कर कृष्ण की आँखें भीग जाती हैं :

''घिर गये थे मेघ माधव के नयन में, क्या कहूँ,
बिजलियाँ चमकीं, उठे ठनके गगन में, क्या कहूँ !

—पृष्ठ २५४

तो सहृदय के मन में कृष्ण का वह रूप उतर आता है जो दयामय है, ईश्वर का रूप है, जिसे कर्ण भी इस प्रबंध में स्थापित करता रहा है :

''सुनते जागा क्रोध अनल-भव-तब केशव का,
लगा बदलने रूप काल-सा तब माधव का;
आँखों में जल उठी आग, बाहों में सागर,
गर्म उसाँसों की लपटें पूर्वा को पाकर ।
''ब्रह्मा झलका दिप्त भाल पर, रुद्र हृदय में,
कुरु का संशय हटा रहे, पर कुछ संशय में;
वाणी से ही बता गये सबको केशव यह,
'कैसे बड़वानल उगलेगा नील कमलदह ।
'लोकपाल, आदित्य, मरुदगण, असुर, यक्ष तक,
सब मुझसे ही संचालित हैं, इसमें क्या शक ।
मैं पांडव में, पांडव मुझमें, शक्ति-शिवालय,
पड़े अतल में क्या देखोगे तुंग हिमालय ?''

—पृष्ठ १७६-१८०

जिस रूप को प्रबंधकार ने भी खंडित नहीं होने दिया है।

कर्ण महाकाव्य के अन्य पुरुष पात्र

प्रस्तुत महाकाव्य में कर्ण, केशव, परशुराम के अतिरिक्त अधिरथ, धन्वंतरी, दुर्योधन, ऐसे कुछ पात्र हैं, जिन पर भी चर्चाएं अलग से की ही जा सकती हैं। महाभारत के कर्ण पर तो अनेक महाकाव्य, खंडकाव्य लिखे गये हैं लेकिन कर्ण के पालक पिता अधिरथ पर शायद ही इस विस्तार से लिखा गया हो। डॉ. अमरेन्द्र ने उपेक्षा की खाई को पाटते हुए, उनके जीवन, व्यक्तित्व और उनके पिता रूप को भी जरूरत भर समेटा है। महाकाव्य के पहले सर्ग में अधिरथ का परिचय इन दो पंक्तियों

से मिलता है :

और फिर देखा किनारे संत कोई,
श्रेष्ठकूल उत्पन्न हो, कुलवंत कोई।

आगे चन्द्रातप पर्व में अधिरथ स्वयं अपने पूर्वज का परिचय संकेत में देते मिलते है, जिससे इनके निःसंतान होने का ज्ञान होता है। आगे प्रज्ञा पर्व में इनके रथ कौशल का परिचय महर्षि परशुराम की बातों से मिल जाता है जब वह कहते हैं कि मंदार के मध्य तक रथ को हाँकते ही पहुंचना सिर्फ अंगनरेश से ही संभव है। यहाँ अधिरथ के व्यक्तित्व के अन्य पक्ष भी सामने आते है। आगे आखरी बार ये पुनर्नव पर्व में दिखाई देते हैं, जहाँ अपने घायल पुत्र कर्ण के लिए बहुत व्यथित दिखाई देते हैं।

जहाँ तक धनवंतरी का प्रश्न है, उन्हें सिर्फ पुनर्नव पर्व से ही जाना जा सकता है, जिससे यह पता लगता है कि उन्हें अपनी चिकित्सा विधि पर पूर्ण विश्वास है, इसी से वह कर्ण के बारे में सबकुछ सुनकर भी बहुत विचलित नहीं होते और इधर-उधर की जानकारियां लेते रहते हैं।

इसी पर्व में देवराज इंद्र के व्यक्तित्व का वह पक्ष भी खुलता है, जो उसे कठोर नहीं, सदय हृदय का सामान्य व्यक्ति भी सिद्ध करता है। प्रबंधकार ने एक ही पर्व में इन तीन चरित्रों के व्यक्तित्व की विविधताओं को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया, जो चरित्र-निरूपण की दृष्टि से कम कलापूर्ण नहीं।

कर्ण महाकाव्य में स्त्री पात्र

कर्ण महाकाव्य में कुल पाँच नारी पात्र हैं, जो अपने व्यक्तित्व से सहृदय के चित्त को बाँधने में समर्थ हैं, ये हैं : कुंती, राधा, वृषाली, पुनर्नवी और द्रोपदी। चरित्र-विस्तार की दृष्टि से पुनर्नवी से कहीं अधिक द्रोपदी को प्रबंध में प्रमुखता मिली है, जबकि पुनर्नवी कर्ण की ज्येष्ठ रानी है। अगर प्रबंध में पुनर्नवी का कुछ महत्व बन पड़ा है तो उस पत्र के कारण जो हस्तिनापुर में प्रवास-ःक्रम में कर्ण द्वारा लिखा जाता है। काव्य का प्रपंच पर्व पुनर्नवी के नाम लिखा गया पत्र ही है।

इस प्रबंध की कृष्णा पहली बार प्रतिज्ञा पर्व में दिखाई देती है, जहाँ इसकी जन्मकथा के साथ स्वयंवर के समय कर्ण की कहे गये क्रूर वचन के कारणों का उल्लेख है, साथ ही उस समय के कठोर रूप का चित्रण भी। लेकिन एक कथा के अनुसार यहाँ द्रोपदी के क्रोध को स्वाभाविक दिखाने की चेष्टा है, वह भी कर्ण के ही द्वारा। कथा ऐसी है कि कृष्णा चित्र दर्शन के बाद कर्ण को चाहने लगी थी और कर्ण था

कि उसे जीतकर मित्र दुर्योधन को देना चाहता था। द्रोपदी के कटु वचन बोलने के पीछे इसी रहस्य को इस सर्ग में प्रकट किया गया है जिससे द्रोपदी का चरित्र सहृदय में संवेदना ही जगाता है।

इस महाकाव्य की द्रोपदी अत्यन्त रूपवती है और इसी को आधार बनाते हुए, कवि ने मनोविज्ञान का सहारा लेते हुए यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि उसे सभा में लाया तो गया जरूर लेकिन निर्वसन करने की बात भ्रम की कल्पना भर है। सभी उसके रूप से ही इस तरह मुग्ध हो रहे थे कि और सारी बात ही भूल गये, निर्वसन करने की बात तो दूर की है। जो हो, इस प्रकरण से प्रबंधवार ने प्रकारान्तर से उसके अप्रतिम रूप का चित्र उपस्थित तो कर ही दिया है। वैसे विचार का एक अलग विषय हो सकता है कि कवि अमरेन्द्र रूप-वर्णन के मोहजाल में कहीं से फँसते नहीं दिखते, बस कुछ शब्दों में कह कर निकल गये हैं, जब कर्ण या वृषाली का ही यहाँ रूप-वर्णन फैलाव के साथ नहीं, तो औरों का क्या होता।

प्रबंध की प्रमुख नायिका वृषाली पर बातचीत करने के पूर्व महाकाव्य में दो और नारी पात्रों कुंती और राधा के चरित्र पर विचार कर लेना आवश्यक है, यह इसलिए भी कि दोनों ही कर्ण की माँ हैं, एक जन्म देनेवाली माँ, दूसरी पालने वाली माँ। लेकिन दोनों के व्यक्तित्व काव्य में प्रत्यक्षतः अलग-अलग हैं। कुंती हृदय की कोमलता से निर्मित मूर्त्ति है, जबकि राधा में बुद्धिपक्ष की प्रधानता अधिक है। राधा काव्य के प्रथम सर्ग, द्वितीय सर्ग और सर्ग चार में उपस्थित मिलती है। प्रथम सर्ग में बस इतना कहा गया कि वह अप्सरा-सी दिखती है। द्वितीय सर्ग (प्रारब्ध पर्व) में उसका मातृत्व उजागर हुआ है, तो अनिष्ट की आशंका से भयभीत एक नारी का भी लेकिन प्रारब्ध पर्व में राधा का जो व्यक्तित्व सामने आता है, वह राजरानी के व्यक्तित्व के ही अनुकूल है, जहाँ वह अपने पति अधिरथ की इच्छा के विपरीत यह चाहती है कि कर्ण के शासक बनने के पहले जरूरी है कि शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर ले, क्योंकि ज्ञानहीन शासक लोकहित में नहीं होता :

''ज्ञान से वंचित सिंहासन मात्र आसव,
शोर को बनना अभी है भोर-कलरव;
ज्ञान है तो शक्ति का साम्राज्य विस्तृत,
उस किरण, आलोक के बिन भाग्य विरमित ।
''शक्ति का संचार केवल, पाप ही तो,
कामना कर ले रहा नर शाप ही तो;
क्या नहीं है ज्ञात घर की ही कथा सब ?
घेर लेती है अभी भी उठ व्यथा सब ।

''यह सिंहासन, राजगद्दी ज्ञान के बिन,
पीठ पर फुँफकारते-से नाग-नागिन;
मैं नहीं अब चाहती यह अंश मेरा
और भी झेले हृदय का दंश, मेरा ।
''राजसत्ता है प्रजाहित, तो सँभाले,
भार भूतल का सभी मिल कर उठा ले;
कर्ण गुरुकुल में रहेगा शिष्य बन कर,
एक दिन आयेगी निश्चित ज्योति छन कर ।
''जो भी करना है उसे सब कुछ सँभल कर,
राजकुल में ही रहे, पर व्रात्य बन कर;
कर्ण के यश से धरा यह धन्य होगी,
यह सिंहासन जब दिखेगा—शांत योगी ।''

—पृष्ठ ४०-४१

कुंती का व्यक्तित्व राधा से भिन्न है। यह काव्य में कात्सल्य भाव की प्रतिमूर्त्ति बनकर उपस्थित है। प्रबंध के प्रथम सर्ग में ही अपने नवजात शिशु की सुरक्षा के लिए, जिसे वह मंजूषा में रखकर नदी की धार पर छोड़ आई है, जिस तरह विचलित दिखाई देती है, वह एक माँ के प्रबल वात्सल्य की पीड़ा है। प्रबंधकार ने कुंती के मातृरूप को गढ़ने में अपनी ओर से किसी तरह की कमी नहीं रखी है। वह कर्ण का ब्याह देखने के लिए वर्णावर्त्त के एकांत स्थल में रुक जाती है, जिसकी जानकारी काव्य में सूर्य के द्वारा पाठकों को मिलती है :

''तुम्हें क्या ज्ञात वर्णावर्त्त में, जो कि यहाँ पर,
पृथा ठहरी थी लाखावास में अब तक जहाँ पर;
उसी की कामना थी ब्याह होने तक रहेगी,
लिखा है भाग्य में जो, क्या हुआ, उसको सहेगी ।
''स्वयंवर देखना वह चाहती थी भानुमति की,
सुकन्या सुन्दरी भगदत्त की, ज्योतिप्रभा की ।
पृथा यह जानती थी सुन्दरी किसको मिलेगी,
कमलनी स्वर्ग की यह किस सरोवर में खिलेगी ।
''तभी तो पांडवों को दूर ही रक्खा यहाँ से,
सभी कुछ ज्ञात होना था सहज क्षण में जहाँ से ।

—पृष्ठ ६६

रंगशाला में जब कर्ण सारथीपुत्र होने के नाम पर अपमानित हो रहा होता

है, तब कुंती का मातृ हृदय तड़प उठता है और वह बोल उठती है—कवच-कुंडल ही कर्ण के क्षत्रिय होने की पहचान है, इससे बड़ी पहचान और क्या हो सकती है। :

> ''यह अधर्म है, प्रश्न व्यर्थ है, वीरों का अपमान,
> तेजपुंज जब प्रकट; यही तो क्षत्रिय की पहचान;
> कहे नहीं क्या स्वर्ण कवच-कुंडल की आभा परिचय?
> देववंश का प्रकट अंश है, शक क्या। यह तो निश्चय।
> ''और यही कल अंगदेश का नृप भी होगा घोषित,
> चम्पा नरेश अधिरथ की रानी राधा से है पोषित ।''
> रंगमंडप में गूँज गया स्वर नारी का गंभीर,
> जो प्रकोष्ठ से आया था रानी का, बहुत अधीर।

—पृष्ठ ६१

कर्ण भी उस स्वर को सुनता है जिसकी पुष्टि इसके आगे के सर्ग में सूर्य भी करते हैं :

> ''सुनो वसुषेन, उस दिन रंगशाला में सुना जो,
> तुम्हारी माँ पृथा थी, झूठ कुछ न था, हुआ जो ।
> ''उसे बस जान पाया जो किसी ने, एक ही था,
> सुयोधन था, विजय का, हारकर भी, अर्क पीता;
> सभी तो जीत में या हार में खोए हुए थे,
> भले ही जागते हो पर सभी सोए हुए थे ।

—पृष्ठ ६५)

कुंती प्रबंध में दूर तक चलती है, कभी स्वयं आकर, तो कभी सूर्य के माध्यम से। अधिकांश बार तो उसके व्यक्तित्व को हम सूर्य के संवाद से ही समझ पाते हैं।

प्राणदान पर्व में कुंती का चरित्र शुद्ध भारतीय नारी के रूप में उपस्थित है। संतान की रक्षा को लेकर उसके मन की शंकाएं, अपशकुन के चिह्न पुत्र-रक्षा में खतरे को उठा लेना, सब कुछ कुंती को माँ के आसन पर स्थापित कर देता है और जिस समय अपनी बात को सामने आकाश में दीप्त हो रहे सूर्य को साक्षी बना कर कहती है, उस समय तो उसका संपूर्ण नारीत्व सजकर प्रत्यक्ष हो जाता है।

''झूठ नहीं बोलूँगी बेटा सम्मुख हैं भगवान..... —पृष्ठ १६६

यह ठीक है इस प्रबंध में कुंती का लज्जा, प्रेम और वात्सल्य से सना व्यक्तित्व ही प्रमुखता से प्रत्यक्ष हुआ है, लेकिन कवि डॉ. अमरेन्द्र के मन में हमेशा यह भाव रहा है कि प्राणहीन नारीत्व का कोई औचित्य नहीं होता, इसी

से इन्होंने अगर राधा के व्यक्तित्व को शीलवान ओज प्रदान किया है, तो उसे कुंती में भी स्थापित करते हैं। प्राणदान पर्व में ही वह कर्ण से कहती है :

"भय ने घेरा मन को तो बस दूर रहा अनुराग,
एक भयावह चिंता ही थी रही कुक्षि में जाग ।
नौ माहों तक रही काल की मुट्ठी में मैं बंद,
आखिर तुमको छीन ले गया मुझसे मेरा द्वन्द्व।"
"अब नारी का शक्ति-तेज का मुझमें खुला प्रकाश,
चाह रही हूँ अपने ही तो हिस्से का आकाश ।'
कहते-कहते भीग गई आँसू से कुन्ती-देह,
खुला हुआ है पलकों से आँचल तक माँ का स्नेह ।"

—पृष्ठ २००

वैसे नारी के शील और ओज के सौन्दर्य को कवि ने पूरी तरह से महावाव्य ही मुख्य नायिका वृषाली में जागृत दिखाया है।

वृषाली के रूप, उसकी छवि की जानकारी हमें सूर्य के कथन से कुछ-कुछ और कर्ण की बातों से अधिक मिलती है।

स्त्रियोचित शील-गुणों से सम्पन्न यह नायिका जितनी अपने नाथ की अनुरागिनी है, उससे कम नहीं प्रकृति के प्रति अनुराग रखती है। उसका यह प्रकृति प्रेम गिरिडीह पर्व में भी देखा जा सकता है। पर्वत, नदी, पक्षी को देखकर कह किस तरह अभिभूत होती है, वह द्रष्टव्य है :

"ये कहाँ ले आए रथ को हाँकते अब नाथ ?
किस तरह गिरि शोभते, पकड़े हुए ये हाथ !
वन सघन देखा था मैंने पर न गिरि का प्रांत,
झूमती नदियाँ हैं, लेकिन फिर भी कितने शांत !
"बादलों से बात करने को विकल ये वृक्ष,
क्या यही पर्वत वही है, जिसको कहते ऋक्ष ?
गिरि-शिखर से बात करते ऊँचे उठते पेड़
देख कर यह मेघशावक आके जाते छेड़।
"लग रहा है बादलों से ये करेंगे बात,
यह सघन छाया कि जैसे हो रही हो रात ।
पर्वतों पर लोटतीं नदियों का मधुमय राग
डीह गिरि का देख पाई, धन्य मेरा भाग !

—पृष्ठ १४१

‘‘यह चका, यह चक्र नदियों का, अनोखा स्वर्ग,
रच रहा है अंगभू पर जो मधुरतम सर्ग !
‘‘नाथ, वह है कौन पंछी ? मुग्ध करता शाल,
पत्तियों के बीच गति यूं, कामिनी की चाल !
‘‘आज तक देखा नहीं था, सच कहूँ मैं, नाथ,
ज्यों तमस में छुप रहा हो स्वर्णपंखी प्रात ।
माँ के आँचल से हुलकता, शिशु कोई चुपचाप,
हर रहा है इस विजन का शोक, सब संताप ।’’

—पृष्ठ १५०

लेकिन यह भी नहीं कि इसी कारण यह अपने दायित्वों के प्रति उदासीन है। गिरिडीह के सौन्दर्य में डूबी वह चंपा लौटने की बात करती है : क्योंकि गृह के साथ राजकाज की अनदेखी हो रही है :

‘‘क्या बड़ी दी सोचती होंगी, न सोचा हाय,
निज सुखों के सामने मन किस तरह निरुपाय।
छोड़ दो हारिल यहीं, हम क्यों उजाड़े गेह,
फूल, पत्तों और फल से पंछियों का नेह ।
‘‘चाह बस लेकर चलें कि यह हमारा प्रांत,
जगमगाए गगन-दीपों से, रहे न ध्वांत !
गिरि-वनों में गूँज जाए नागों का फिर हर्ष ।
हाँ प्रिये अब लौट जाएं, बीतता है वर्ष !
‘‘राजकुल के वास्ते भी हैं रखे कर्त्तव्य
नाथ से ही जब बँधा हो अंग का भवितव्य;
भार दीदी पर धरे सब यूँ बने निर्भार
राजसत्ता-भाग्य का तो यह नहीं उपचार ।
‘‘क्या हुआ जो दीदी ऐसी बुद्धिमति भी, धीर,
नाथ के बिन राज भी तो पाँवों में जंजीर ।
देखती होगी महल से राह को, ले आस,
जानती हूँ मैं शिशिर की यह अनोखी प्यास ।
‘‘कब रहा यह ज्ञात कि औरों का होता हर्ष,
नाथ, अब तो लौट जाएं, बीतता है वर्ष;
इस विछोह का जानती हूँ दुख बड़ा दुर्धर्ष,
पर अभी तो लौट जाएं, बीतता है वर्ष ।’’

—पृष्ठ १५१-५२

जैसा कि ऊपर इसकी ओर सकेत हुआ है, महाकवि अमरेन्द्र नारी में नारीत्व के साथ शीलपूर्ण क्षत्रियत्व की शोभा भी देखते के पक्षधर हैं, जो हमें इस महाकाव्य ही महानायिका के चरित्र में पूर्णरूपेण जागृत दिखता है। प्रबंध के अंतिम सर्ग यानी पंचता पर्व में वह उस दूत से सब कुछ खुलकर कहने कहती है, जो दूत समर में कर्ण की वीरगति पाने की खबर लेकर आया है ।

फिर तो दूत रुक-रुक कर सारी कथाएं सुना जाता है और आगे कुछ भी कहने से असमर्थ वह जब रुक जाता है, तो शोक से व्यथित वृषाली अपनी पीड़ा को पीछे रखती हुई क्षत्रिय स्वर में बोल उठती है :

''साथ मरने का लिया अधिकार मेरा छीन,
अंगश्री को जोगना है, हो के अब श्रीहीन !
क्या हुआ जो हूँ अभागिन, भाग्य भव का जाग!
मेरे संग में मेरे पति का आज भी अनुराग ।
''सुधि रहेगी साथ में तो, क्या डँसेगा क्लेश,
अंगपति की सुध लिए यह जागता है देश ।
अब जगेगी सृष्टि सारी, पा नया आलोक,
देखती हूँ छट रहा है व्योम-भू का शोक ।
''और उसपर अंगपति का है लिखा आलेख
वायु, अग्नि, सिन्धु, अब आँखें उठा कर देख !
फिर तमिस्रा को हटाए आ रहा आलोक,
किस तरह माथा पटक कर मर रहा है शोक ।''

—पृष्ठ २५५

निष्कर्षः

इस तरह देखें, तो निष्कर्ष रूप में हम जान सकेंगे कि कर्ण महाकाव्य के मुख्य पुरुष पात्र ही ओज के उदात्त चरित्र नहीं है, बल्कि इसके अधिकांश नारी पात्र भी। यहाँ इसकी ओर संकेत कर देना आवश्यक होगा कि नारी के प्रति यह दृष्टिकोण, जो किसी भी तरह से आधुनिक नारीवाद से प्रभावित नहीं, बल्कि उस भारतीय संस्कृति से प्रभावित स्त्री विमर्श है, जहाँ शील और सीमा का अतिक्रमण तो एकदम नहीं, और जो अपने ओज से संकटों को छिन्न-भिन्न करने में समर्थ है, विवेकपूर्ण निर्णय लेने में समर्थ है, और कवि अमरेन्द्र यही चाहते भी हैं। इनके हिन्दी उपन्यास सेलेश भगत में नायक अपनी योगिन प्रिया से यहीं तो कहता है कि वियोग में सौन्दर्यविहीन हो जाना स्त्रियों के जीवन को और भी कष्टकर बना देता है। इनके

अंगिका उपन्यास सत्ती बोदी की सत्ती बिलकुल विपरीत परिस्थिति में भी अपने संकल्प, अपनी ओज को बचाए रखती है। स्त्री के प्रति कवि के उदात्त विचार कर्ण प्रबंध के नारी पात्रों में भी सक्रिय रहे हैं।

लोगिनुस के उदात्त तत्व को ध्यान में रखकर अगर हम कर्ण प्रबंध के नारी पात्रों पर विचार करें, तो हम कह सकते हैं कि दीनता, शोक, भय आदि भाव, जो ओजत्व के विरोधी है, यानी आत्मा के प्रकाश को मलीन करने वाले को प्रबंधकार ने अपने स्त्री पात्रों में ठहरने नहीं दिया, इन स्त्री पात्रों में गरिमापूर्ण वीरोचित भाव हैं, आत्मा में प्रकाश भरनेवाले भाव। दूसरे शब्दों में कह ले सकते हैं कि लोगिनुस काव्य में जिस भाव की उपस्थिति पर बल देते हैं, वह भाव कर्ण महाकाव्य के पुरुष पात्रों में ही नहीं, स्त्री पात्रों में भी प्राप्त हैं।

कर्ण काव्य में रस-विधान

रस ही काव्य की आत्मा है, तो कर्ण जैसे महाकाव्य में रस की उपेक्षा कैसे हो सकती थी, चाहे जितना भी यह प्रबंध काव्य आज की समस्याओं से जूझता, और उसका निदान खोजता महाकाव्य हो।

फिर महाकाव्य में रस की स्थिति को लेकर संस्कृत के आचार्यों ने यह एकमत से स्वीकार किया है कि इसमें एक प्रधान रस के साथ अन्य रसों की उपस्थिति भी आवश्यक है, लेकिन अन्य रसों की उपस्थिति वैसी ही हो कि प्रबंध में मुख्य रस की पहचान धूमिन न लगे। मुख्य रस काव्य में मुख्य और प्रबल धारा की तरह सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त रहे, जैसा कि आलोच्य प्रबंध में है भी।

महाभारत का कर्ण अपने अप्रतिम शौर्य, वीरता, दानशीलता के लिए ही प्रसिद्ध है और प्रस्तुत प्रबंध का नायक ही जब कर्ण है, तो स्वाभाविक ही है कि इस महाकाव्य का मुख्य रस भी वीर रस ही होता, जो है भी। लेकिन व्यास के कर्ण और डॉ. अमरेन्द्र के कर्ण में बहुत अधिक साम्य रहने के बावजूद बहुत अंतर भी है। प्रस्तुत महाकाव्य में कर्ण के संपूर्ण जीवन को जिस विस्तार के साथ और विविध कोणों से चित्रित किया गया है, तो काव्य में वीररस के अन्य समस्त भेदों के साथ, श्रृंगार, रौद्र, भयानक, अद्भुत, करुण, वात्सल्य, शांत जैसे रसों की उपस्थिति भी स्वाभाविक रूप से हो गई है, जो प्रस्तुत प्रबंध को रसों का महाकाव्य बनाती है। यहाँ एक संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है :

श्रृंगार रस :

कर्ण महाकाव्य में सूर्य काम की दुर्निवार शक्ति और उसके प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए कहता है :

''तन गई रीढ़ तन की एक बस आवेग हू-हू,
बुद्धि मेरी थी हवा पर, चेतना जलती-सी धू-धू।

इससे यह तो समझा ही जा सकता है कि प्रस्तुत प्रबंध का लक्ष्य भले ही कुछ और हो, इसे रति भाव से किसी तरह भी अलग रखना संभव ही नहीं था, ऐसा करना तो भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से भी इसे श्रीहीन करना होता।

लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए, कि काव्य के द्वितीय सर्ग में सूर्य के द्वारा काम के जिस उद्दाम वेग का उल्लेख हुआ है, वह उस उल्लेख तक ही सीमित है, इसका ऐसा रूप प्रबंध के किसी सर्ग में कहीं भी देखने को नहीं मिलता। इसका एक कारण है कि यह प्रबंध सूर्य पर नहीं, सूर्यपुत्र कर्ण पर केन्द्रित है, जो ऋषिकन्या से इसलिए शापित होता है कि वह उसके रसमय निमंत्रण को अनैतिक समझकर अस्वीकार करता है। शील का यही सौन्दर्य, प्रबंध में जहाँ-जहाँ भी शृंगार उपस्थित है, उसे नियंत्रित-संयमित करता है और उसे दामपत्य रुप प्रदान कर अधिक सौन्दर्ययुक्त बनाता है।

इसी से प्रस्तुत प्रबंध काव्य में शृंगार अपनी मर्यादा और शालीनता के साथ ही उपस्थित हुआ होगा, ऐसा कहा जा सकता है और जो है भी।

यहाँ रति भाव का प्रथम दृश्य प्रमदवन पर्व 'आठमें सर्ग' में मिलता है जहाँ कर्ण विवाह पूर्व के वृषाली के प्रति अपने आकर्षण-अनुराग और संकोच को व्यक्त करते कहता है :

''पक्ष बीते, मास बीते, वर्ष बीते काल के,
पर नहीं धूमिल कहीं कुछ मन-हृदय महिपाल के;
दीठि में अब भी है चंचल रूप की वे रश्मियाँ,
स्वर्ण के प्रासाद पर वह कौमुदी की उर्मियाँ।
''आहटें ! शीतल हवा, सौरभ मलय का पास हो,
पुष्प कुम्हलाए सभी उत्फुल्ल, मधु रितु हास हो;
साँस तक रोके पवन भी पाँव रखता रुई-सा,
फूल माला से बँधाता झुंड तक था हस्ति का ।
''पूस का मन चैत होता बुढ़िया आँधी, गंध वह,
उस समय चौवाय भी पुरवाई होती अंततः;
पूर्णिमा, रतनारि दृष्टि; रजनी, कजरारी बनी,
क्या भुलायी चटक बातें छा रहीं बन चम्पई ।
''आज भी तो सेविया सुधि में समाया मन हुआ,
अब भी मन पर धानी रंग का आवरण वह अनछुआ;

टीका, टिकुली, खौर, नथ, कुंठा औ सिंकुली, चंचला
कुहनी, तगड़ी, बाज की वह बाँक की स्वर्णिम कला ।
''आज भी मुझको उड़ा ले जाती है यह मेघवन,
रंग फूलों के विहँसते आज भी तो छुम छनन ।
आज भी कचनार की मुस्कान की वंशी बजे,
माधवी, बेला-लताओं की वही माया सजे ।
''आज भी तो केतकी संगीत भरती रोम में,
चाँदनी की रास अब भी इस गहन तम तोम में;
आज भी मुचकुन्द सुरभित है, वकुल जैसे खिले !
मैं जरा विचलित हुआ तो सब के सब आ कर मिले ।
''याद करता हूँ कभी जो उन दिनों को आज भी,
हों वकुल के फूल, हरश्रृंगार के मन में तभी;
बेसुधी अपनी छिपाए किस तरह व्याकुल रहा,
मैं निमिष को एक मन्वन्तर तरह ही है सहा ।''

—पृष्ठ ७४-७५

यहाँ कवि-कल्पना के कौशल को देखना जरूरी होगा कि काव्य के नायक-नायिका में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण अलग-अलग ढंग से उपजता है। जहाँ नायक प्रत्यक्ष दर्शन से आकर्षित होता है :

''यह वही तो है जगह जब तुम पहन कर चाँदनी,
मिल गई थी बस अचानक लाज से सिकुड़ी-सनी;
हाथ के वे धूप-दीपक थरथराए थे जरा,
स्वर्ग से उतरी हुई सम्मुख मेरे थी अप्सरा ।''

—पृष्ठ ७६

वहाँ नायिका माता- पिता के संवाद में आये नायक के गुण-कथन से :

''और क्यों मिथ्या कहेंगे मुझसे मेरे तात ही,
भक्त शिव के कालदर्शी, शक्तिसागर साथ ही;
कह रहे थे, माँ से वह तो, मैं वहीं थी, सुन लिया,
क्या हुआ सौ बातों में से एक को ही चुन लिया ?
''सच कहूँ, तब से ही मैंने चुन लिया था नाथ को,
माँ-पिता भी गिन गये मेरे हृदय की बात को;
प्रीति को अपनी छुपाना तब कठिन था हो गया,
था कहाँ कुछ ज्ञात, मन कब हँस पड़ा, कब रो गया ।

—पृष्ठ ७६-८०

शंका, लज्जा- संकोच के भाव दोनों ही ओर एक से हैं। प्रेम की दशा में अगर कर्ण की दशा यह है :

"तुम मिली मुझको, तुम्हारी कामना थी, धन्य हूँ,
जेठ का आकाश था, पर आज तो पर्जन्य हूँ;
ज्यों अकिंचन को मिला हो राजसुख ही अंग का,
कुछ नहीं है नाम इसका प्रीत के उस रंग का ।
"भार फूलों का लिए मैं तैरता हूँ पौन पर,
भीगता आपादमस्तक सुरभि से तीनों पहर;
अब तुम्हारे साथ से प्राणों में कुछ बजता लगे,
शून्य में भी हर घड़ी सब कुछ नया सजता लगे ।
"नैन पीते, जागते हैं कान, तो नाचे अधर,
झुक गया है भूमि पर मंदार का ऊँचा शिखर;
चेतना जैसे ही थकती, सुधि तुम्हारी जाग जाती,
फिर वही धृति, दैन्य, चिन्ता, मोह, बीड़ा, गर्व, सुप्ति ।
"भूल मैं सकता नहीं रोमांच या वैवर्ण्य को,
आज कह लेने दो मुझको अपनी जड़ता-त्रास को;
मति रही थी साथ, तो उन्माद मुझसे था अलग,
मृत्यु की व्याधि घिरी न, इसलिए जीवन सुभग ।

—पृष्ठ ७६

तो वृषाली की मनोदशा भी ऐसी ही है, किसी तरह कम नहीं :

कर्ण की बातें वृषाली को बहाती ले गयी,
गूँजती थी बाँसुरी बस और कुछ था क्या कहीं;
सुन झुकी थी लाज से फिर दीप की वह वर्तिका,
मन मजीठी, भींगती-सी ओस में अभिसारिका ।
नील नभ में हो सुहाती एक चंचल तारिका,
उपनिषद् की अनलिखी-सी, अब लिखी-सी कारिका;
झील में लहरें उठीं, काँपा सलिल थिर हो गया,
जो उड़ा खग नील नभ में एक क्षण में खो गया ।
चुप दिशाएँ; ज्यों हवाएँ; क्या हुआ, क्या हो गया,
छुम छनन छन हो रहा था जो हृदय में सो गया;
सर उठाये था खड़ा वह दृश्य राज्यारोह का,

मोद में डूबे समय का आह का न, ओह का ।

—पृष्ठ ७७

श्रृंगार की यह शालीनता तब भी व्याप्त होती है जब दोनों अपने अतीत के राग को स्मरण कर रहे होते हैं। महाकवि ने श्रृंगार के दामपत्य रूप को श्रृंगार से कभी अलग नहीं होने दिया है, इसीसे अश्लीलता को भाँकने का भी अवसर नहीं मिल पाया है। जबकि अनुभाव का सौन्दर्य यहाँ भी पूरे वैभव के साथ छाया हुआ है । संचारी भावों की भी लहरियाँ हैं :

हो उठा वसुषेन पुलकित प्रेम से भीगा हुआ,
कुछ वृषाली और कहती, कर्ण ने पहले कहा—
''सच कहा तुमने प्रिये, मधु गंध के मधुभार से,
प्राण तन-मन नत सभी हैं नेह के उपकार से ।
''सोचता हूँ, तुम अगर न साथ होती, तो प्रिये,
किस जगह पर आज तन-मन प्राण होते ये टिके !
आज भी लगता समय उड़ता हुआ खगराज हो,
प्राण कुछ कहने को व्याकुल, काल कहता 'चुप रहो ।''

—पृष्ठ ८०

और उद्दीपन का सौन्दर्य भी वैसा भी आकर्षक, वैभवपूर्ण । यहाँ देश-काल ही उद्‌दीपन के कार्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नहीं करते, बल्कि नायक-नायिका की आंगिक दशांए भी उद्‌दीपन विभाव के रूप में चित्रित हैं ।

कर्ण महाकाव्य में श्रृंगार रस तीन रूपों में प्राप्त है। श्रृंगार का जो खुला-निर्मल रूप 'प्रमद वन पर्व' में प्राप्त होता है, वह 'प्रत्यूष पर्व' में नहीं है, लेकिन यहाँ भी रति-दृश्य अपने लघु आकार में पूर्णता का बोध करा जाता है। रात्रि की निस्तब्धता के बीच द्रोपदी की स्मृति में लीन कर्ण की स्थिति देखकर उसकी प्रिया वृषाली यह कहती है :

''कहीं द्रौपदी की छाया तो घेरे नहीं खड़ी है ?
सचमुच में इस रूपजाल की माया बहुत बड़ी है ।
ले जाती है दूर दृश्य से जहाँ शून्य ही केवल,
बाँधे रहता है तन-मन को हिम-किरणों का शतदल ।
''अंगराज को नहीं लुभाती अब क्या कहो, वृषाली ?
दूर-दूर रहने की तुमने कैसी राह निकाली !''

—पृष्ठ १३८

अचानक के इस प्रश्न से कर्ण की जो स्थिति होती है और चेतन होते हुए वह जो

कुछ कहता है, वह रस के उद्रेक के लिए काफी है :

सब कुछ ठीक-ठाक था, उसने जब अपने को तौला,
संचारी को हटा, भाव रति को आगे कर बोला—
''क्या कहती हो प्रिये, वृषाली, तुम्हें चाहता जी से,
मीन विलग कैसे हो सकता, सागर, झील, नदी से !
''पुन्नु चीर तो, चानन तुम हो, तृषित कंठ मैं राही,
तुम दोनों के लिए स्वयं को ऐसा मैं पाया ही ।
तुम दोनों से अलग भले था, सुधि तो साथ रही थी,
उड़ते हुए मेघ की खातिर चारो ओर मही थी ।
''अब तो जी करता है जैसे छायावन में बैठे,
हारिल-सा मैं पड़ा रहूँ बस अपने पंख समेटे;

—पृष्ठ १३९

यह सही है कि यहाँ अनुभाव के खुले रूप नहीं हैं, लेकिन प्रेममय कर्ण के वचन ही अनुभावों की कमी को भर जाते हैं :

''प्रेम तुम्हारा धरती पर संदेश स्वर्ग का लगता,
सुधि आते ही सच समाधि का योग तुरत है जगता ।
''इसे बुद्धि से कैसे कोई समझे कहो, वृषाली,
जहाँ देह को ज्ञान नहीं है, वाणी निष्फल-खाली ।
बैठो यहीं, वृषाली कुछ क्षण, मिले शांति इस मन को,
आज तुम्हारी आँखों में फिर देखूँ नील गगन को ।''

—पृष्ठ १४०

कर्ण के इस सनेहिल वचन को सुनकर :

''मुस्काई, संकेत किया सखियों की ओर नयन से
कुछ उलाहने के ही स्वर में, पुलक संभाले मन में।''

—पृष्ठ १४०

हँसी वृषाली इतना कह कर, उठी कर्ण के संग में,
आँखें दिखीं कर्ण की दोनों रंगी गुलाबी रंग में ।
अब तक जो थे मौन विहग सहसा ही लगे चहकने,
फूलों के सौरभ के संग में शीतल हवा बहकने ।
ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के शिखरों से शशि ने देखा,
चलते हुए बटोही दो की एक विरल-सी रेखा ।
नीरवता में लगे गूँजने लहरों के सुर लय में,

स्वप्नों की साँसें बस चलतीं मन के शांत निलय में ।''

—पृष्ठ १४०

कर्ण प्रबंध में शृंगार का यह मुकुलित रूप है, सुगंधपूरित अधखिला पुष्प, बस मकरंद नहीं झर रहे।

ठीक इससे अलग एक तीसरे प्रकार का शृंगार-चित्र भी यहाँ मिलता है, इसे संकेत का शृंगार कह ले सकते हैं। यहाँ कुछ भी खुला-खुला नहीं है, बस संकेत में आश्रय का रति भाव संचारी भाव की तरह उभर कर शेष हो जाता है। इसे गिरिडीह पर्व में देख सकते हैं। किसी अन्य बातों को लेकर कर्ण का ध्यान जब वृषाली से हट जाता है, तब पर्वत के उस एकांत प्रदेश में उसके ध्यान को अपनी ओर करने के लिए वृषाली के इन कथनों में शृंगार की प्रच्छन्न मधुर छवि ही क्षण भर के लिए दीप्त हो जाती है :

''यह चका, यह चक्र नदियों का, अनोखा स्वर्ग,
रच रहा है अंगभू पर जो मधुरतम सर्ग !
''नाथ, वह है कौन पंछी ? मुग्ध करता शाल,
पत्तियों के बीच गति यूं, कामिनी की चाल !
''आज तक देखा नहीं था, सच कहूँ मैं, नाथ,
ज्यों तमस में छुप रहा हो स्वर्णपंखी प्रात ।

—पृष्ठ १५०

वात्सल्य रस :

भले ही आरंभ में काव्यशास्त्रियों का ध्यान ओर नहीं गया हो कि वत्सल भी कोई स्वतंत्र स्थायी भाव है और इसी उपेक्षा के कारण आदि आचार्यों ने वत्सल को रति से अलग कोई स्थायी भाव नहीं माना लेकिन बाद में इस भूल का निवारण भी हुआ। सिर्फ भोज ने ही वत्सल को एक खतंत्र स्थाई भाव स्वीकारते हुए वात्सल्य रस को नहीं स्वीकारा बल्कि आचार्य विश्वनाथ ने तो अपने काव्यशास्त्र में इसे पूरी व्याख्या के साथ स्वतंत्र रस के रूप में स्वीकार किया है। अब तो जिस तरह से मनोवैज्ञानिकों ने बाल संवेदनाओं पर नयी-नयी खोजें की हैं, इससे तो वात्सल्य रस को अस्वीकारना भारी चूक ही होगी। जो हो, अगर भोज या आचार्य विश्वनाथ ने इसकी सत्ता नहीं भी स्वीकारी होती और मनोवैज्ञानिकों से बाल-संवेदनाओं को इतनी प्रमुखता नहीं भी मिली होती, तो भी अमरेन्द्र के महाकाव्य 'कर्ण' में जिस तरह वत्सल (स्नेह) को स्थायी भाव के रूप को व्यापकता प्राप्त है, और वीर या शृंगार रस की तरह संपूर्णता में चित्रित है, तो इसे रस के दायरे या विश्लेषण से बाहर रखना किसी भी तरह से संभव नहीं।

कर्ण काव्य में वात्सल्य रस प्रबंध के प्रथम सर्ग से ही शुरू होकर प्रज्ञा पर्व तक यानी पाँच सर्गों तक अबाध गति से प्रवाहित होता रहा है। हालांकि इनके बाद भी इस रस की छटा अन्य सर्गों के बीच से उभरती देखी जा सकती है।

जो हो, इस प्रबंध में वात्सल्य रस का आलंबन है, कर्ण। प्रथम सर्ग में ही कुंती जब नवजात शिशु कर्ण को मंजूषा में रख चंदना की धार पर छोड़ आती है, साथ में एक प्रहरी को भी जो घार पर बहती मंजूषा के साथ-साथ तब तक जाता रहे, जबतक कि बालक किसी सुरक्षित हाथों में न जा लगे, तो उसका वत्सल चरम पर दिखता है। माँ कुंती बहुत बेचैन है कि प्रहरी अब तक लौटा क्यों नहीं है । क्या मार्ग में फिर कोई नई विपत्ति आ गई। माँ के मन की यह व्याकुलता कितनी स्वाभाविक और द्रवित करनेवाली है, देखें :

''क्या हुआ जो लौट कर आया न प्रहरी''
मन की शंका और गहरी और गहरी ।
लग रहा था एक युग-सा एक क्षण तक,
बन के पर्वत ही खड़ा हो, एक कण तक ।
मन यही करता, निकल जाए भवन से,
चाँद जैसे निकल पड़ता श्याम घन से ।

—पृष्ठ ११

और व्याकुलता के उन्हीं क्षणों में कुंती की आँखों में धार पर बहते शिशु कर्ण का अपूर्व रूप उभरता है :

ले रहा शिशुरूप, फिर किलकारियाँ हैं,
गीत मंगल गा रही-सौ नारियाँ हैं ।
अंग ज्यों कंचन तपा-सा बहुत दपदप,
कर रहा है लघु करों से वारि छपछप ।
भोर आँखों में जगा हो, रात सर पर,
गौर से देखा पृथा ने फिर ठहर कर;
लघु चरण ऊपर उठाता, फेंकता है,
और करवट लेके नीचे देखता है ।
गुरु, विभाकर, सूर्य सब आगे हुए हैं,
कर-चरण के भाग्य सब जागे हुए हैं;
बह रहा है स्वर्णतरी पर; हो हिंडोला,
देख, मन का हर्ष कुन्ती ने टटोला ।

—पृष्ठ १२

इस तरह शिशु कर्ण के लिए माता कुंती के मानस में विविध छवियों, अनुभावो का मार्मिक विधान हो गया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि अनुभाव सिर्फ रोने-धोने, छाती पीटने, खिलखिलाने का ही नाम नहीं होता—ये तो आंगिक अनुभाव हैं, इससे भिन्न अनुभाव तो सात्विक अनुभाव ही होते हैं, जो चेहरे पर उभर आये बदलाव से ही समझे जा सकते हैं। वैसे भी श्रव्यकाव्य में सात्विक अनुभावों से रस के लिए अनुकूल परिवेश उपस्थित किया जाता है, जैसा कि प्रस्तुत प्रबंध में भी हुआ है।

पात्रों के कथन से अनुभावों का चित्र-विधान हम प्रस्तुत महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में भी पाते हैं। सामने रश्मियों के देवता सूर्य को पाकर निःसंतान राधा अनजाने में हो गई भूल को जब बताती है, तब वहाँ वात्सल्य का बीज दिखता है, वह वृक्ष रूप में रश्मियों के देवता सूर्य के वत्सल भाव में उभर आता है। राधा कहती है :

''जिस समय गंगा के तट से स्वामी ने शिशु को उठाया,
मेरे मन में एक शंका, एक भय आकर समाया;
यह नहीं सामान्य शिशु है, देवता का अंश है यह,
पुण्य के आलोक का ही भूमि पर अवतंश है यह ।
''पर रही न याद कुछ भी, देख शिशु को मोह छाया,
दूध उमड़ा जो नशों में वह हृदय पर उतर आया;
आज सम्मुख देवता के पाप मेरा खुल गया है,
क्यों मुझे लगता है मेरी देह में विष घुल गया है ।

—पृष्ठ १६

और राधा के भय-निवारण में जब रश्मियों के देवता कुछ कहना चाहते हैं तो वहाँ कुंती का अनखुला वात्सल्य फिर खुल पड़ता है कि किस तरह से नदी में प्रवाहित हो रहे अपने शिशु की रक्षा के लिए देवताओं के समक्ष विनय भर बनकर रह गई थी :

''माँ की ममता खुल पड़ी थी; ज्यों अधिर बरसात आदिम,
सूर्य का मैं ताप लेकर जल रहा था दीप मद्धिम;
घुल रहा था करुण स्वर में तीर पर मेरी प्रिया का,
बस निवेदन, बस निवेदन, बस निवेदन अक्षरा का ।
''किस तरह से वरुण सम्मुख गिड़गिड़ाई थी पृथा तब,
'याचना जाए ना मेरी हे वरुण निष्फल वृथा तब;
हे पवन के देवता वसुषेन के रक्षक रहो अब,

नील नभ में रम रहे जो याचना मेरी सुनो सब !
'आपदाओं से बचाना मेरे शिशु को संकटों से,
अंक में अपने बसाए काल की सब करवटों से !
भूमि के हे देवता, वसुषेन के तुम साथ हो लो,
हो जहाँ पर कर्ण मेरा, तुम वहीं पर प्राण घोलो !'
''इस तरह कातर पृथा की याचना चलती रही थी,
और शिशु को ले पिटारी धार पर बहती रही थी;
चल पड़ा था मैं पिटारी की ही गति से, दृष्टि डाले,
शांत करता पवन, जल को, व्योम-भू सबको संभाले।''

—पृष्ठ २१

ऊपर के छंदों में न केवल कुंती का उमड़ता मातृत्व प्रकट है बल्कि पिता सूर्य का वालल्य भी, जो पुत्र की रक्षा में पवन, जल, भू, व्योम सबको शांत काते मंजूषा के साथ-साथ गतिमान थे और जब राधा से सूर्य यह कहते हैं :

''शौर्य की इसकी कथा भूए गगन, जल, वायु लिखेगी,
आग भी भयभीत होगी जब कमी आयु लिखेगी।
अंग की बाला, सुनो तुम, कर्ण यह वसुवर्म हो है,
यह नहीं वसुषेन केवल, इस धरा का धर्म ही है।''

—पृष्ठ २४

तो, इस अनुबंध में पुत्र के प्रति एक पिता का सम्पूर्ण वत्सल ही जैसे छलक उठा है।

सूर्य जब कर्ण को शिक्षित कर लौट जाने की बात करते हैं, तो वहाँ भी एक पिता का वत्सल भाव ही प्रकट है और जब रश्मियों के देवता की इच्छा में अपनी इच्छा शामिल करती राधा यह कहती है :

''यह नहीं मेरा ही सुत है, यह पृथा-गंगा का सुत है,
तब भला मैं न कहूँ क्या जो कि मंगल भावसुत है।''

—पृष्ठ २६

राधा और अधिरथ के वात्सल्य को तो कवि ने आगे के सर्गों में चित्रित किया है, इसके पूर्व बीज पर्व में रश्मियों के देवता सूर्य के वात्सल्य के कुछ और भावपूर्ण चित्रों को कवि टाँकता चला गया है। पिता का यह वात्सल्य कर्ण की सुप्त स्मृतियों से बाहर आता है—सूर्य एक-एक कर सारी विद्याओं से कर्ण को परिचित करा रहे हैं और उस क्रम में जन-जीव से संबंधित जानकारियों से भी अवगत कराते चलते है, रक्षा का भाव तो सतत ही साथ है। एक पिता का आशीर्वाद भी उसी तरह

क्षण-क्षण निकलता हुआ :

अंग के तुम भूप होगे, यह तो निश्चित
पर भुलाना तुम नहीं ये बात किंचित
अंग के अनुकूल सारे आचरण हो,
इस धरा पर स्वर्ग का फिर संचरण हो।''

—पृष्ठ ३०,

चंद्रातप पर्व वात्सल्य रस से भीगा हुआ सर्ग ही है, भले ही कर्ण के पालक पिता अधिरथ की पत्नी राधा के वातल्य पर बुद्धि का हस्तक्षेप कुछ विशेष हो, लेकिन प्रबल तो हृदय ही है। पिता का वात्सल्य भी कम प्रबल नहीं । जहाँ अधिरथ सूर्य से प्राप्त शिक्षा को ही प्रर्याप्त मानकर कर्ण के राज्याभिषेक की तैयारी की बात सोचकर पुलकित हैं

''अब रही किस बात की चिन्ता है, राधे,
किस तरह से सकल आयुध कर्ण साधे !
काँप जाती हैं दिशाएं, काल कम्पित,
वायु-जल क्या, नभ-धरा क्या, अग्नि विचलित।
''दौड़ता है रक्त जब उसकी शिरा में,
आग लग जाती है तत्क्षण ही हवा में;
रक्त का आवेग कैसा फूटता है,
जब कभी कोदंड से शर छूटता है ।
''ज्यों शिला को ही यतन से काट करके,
कर्ण की काया बनी है, प्राण भर के;
कर्ण की काया कि जिसमें रश्मि दिन की,
ज्यों उजागर हो विभा की राशि, किनकी ?
''हाँक देता, तो लगे, ज्यों मेघ गरजे,
विघ्न कोई हो, इशारे से ही बरजे;
धीरता और वीरता का कर्ण मेरा,
दूर है मुझसे बहुत मेरा अँधेरा ।''

—पृष्ठ ३६

''अंग की यह राजगद्दी, यह सिंहासन,
चाहता हूँ, शीघ्र ही हो कर्ण-आसन!''

—पृष्ठ ३७

वहाँ राधा यह चाहती है उसका पुत्र कर्ण शेष समी विद्याओं से संपन्न हो

ले, तभी राज्य का भार ग्रहण करे :

"कर्ण ने सीखा है जो कुछ और सीखे,
दिख रहा जैसा अभी कुछ, बढ़ के दीखे,
जिस तरह से दीपता है पुत्र मेरा,
पाँवों के नीचे छुपा है घुप अंधेरा।"

—पृष्ठ ४०

दोनों की इच्छाओं में पुत्र के लिए सब प्रकार से कल्याण-भाव ही झंकृत है। तभी तो त्रिया की बातों से अधिरथ के चेहरे पर प्रसन्नता भी यह चमक है, जो सात्विक अनुभाव है :

"सुन प्रिया की बात अधिरथ मन शरत-सा,
मोदपूरित कह उठा, दुख से विरत-सा -
ठीक ही तुमने कहा, मैं भी इं सहमत,
बन रहे भाव मेरे पुष्प- अक्षत!"

—पृष्ठ ४१

यूँ तो महाकाव्य में वात्सल्य रस शरत काल के मेधखंड की तरह भँवर पर्व में भी दिख जाता है, जब कृपाचार्य कर्ण को द्वन्द्वयुद्ध यह कह कर रोकना चाहते हैं :

"बिना निमंत्रण के आए हो, क्या उद्देश्य है आखिर ?
सव्यसाँचि से द्वन्द्वयुद्ध की चाहत घोर अनय है,
पांडूनंदन अर्जुन है, कुन्ती का कुक्षि-तनय है ।
"और अगर जिद यही तुम्हारी तो इतना बतलाओ,
राजा हो या राजकुँवर, तब ही तुम हाथ मिलाओ !
पहले अपने मातृ-पितृ का वंश बताना होगा
द्वन्द्वयुद्ध के लिए धर्म जो, उसे निभाना होगा ।"

—पृष्ठ ६१

तब सबसे अलग एकांत में बैठी माता कुंती की व्याकुलता और वाचिक अनुभाव झटके से वात्सल्य का रस प्रवाहित कर देते हैं :

"और वहाँ से तीन बाँस पर गूँज गया स्वर कातर,
उतनी खनक दिखी थी उसमें जितना था वह झांवर—
"यह अधर्म है, प्रश्न व्यर्थ है, वीरों का अपमान,
तेजपुंज जब प्रकट; यही तो क्षत्रिय की पहचान;
कहे नहीं क्या स्वर्ण कवच-कुंडल की आभा परिचय ?

देववंश का प्रकट अंश है, शक क्या। यह तो निश्चय।
''और यही कल अंगदेश का नृप भी होगा घोषित,
चम्पा नरेश अधिरथ की रानी राधा से है पोषित।''
रंगमंडप में गूँज गया स्वर नारी का गंभीर,
जो प्रकोष्ठ से आया था रानी का, बहुत अधीर।''

—पृष्ठ ६१

वात्सल्य रस का आश्रय विभाव सिर्फ माता-पिता ही नहीं होते, गुरुजन भी होते हैं; बड़े भाई भी हो सकते हैं, कोई भी बुजुर्ग व्यक्ति हो सकता है। इस बात को हम कर्ण महाकाव्य से भी समझ सकते हैं। यहाँ वात्सल्य के विभाव कर्ण के पालक पिता-माता तो हैं ही, गुरु परशुराम भी हैं। इसका दर्शन हमे प्रस्तुत प्रबंध के प्रज्ञा पर्व में होता है। यहाँ भी अधिरथ अपने पुत्र के परिचय में यह कहते हैं :

''यह मेरा सुत कर्ण, गुणों का कोश-व्योम है मुनिवर,
निज कर्मों से सूर्य, वचन से शरद-सोम है, मुनिवर!
गुरु की सेवा, होम-जाप, सब विद्या का अनुरागी,
क्या अतिथिपूजन ही प्रिय है? यह निष्काम विरागी।
''ब्रह्मचर्य के सारे सदगुण देखा खिलते, इसमें,
भव्य त्रिपुर में जो कुछ सुन्दर, सब मिलते हैं इसमें;
यहाँ आपकी छाया में पाए प्रकाश यह, ऋषिवर,
सब कुछ झेल चला आया हूँ लिए आश यह, ऋषिवर।
''वेदों का ही नहीं, अस्त्र का मेरा सुत हो ज्ञाता,
निज भविष्य और बाहु-भाग्य का अब से बने विधाता!
क्षत्रिय है तो छात्र धर्म भी इसमें दिखे अनल-सा,
दान-दया के साथ-साथ ही हो शरदेन्दु विमल-सा।''

—पृष्ठ ४५

तो, इसमें वात्सल्य का संचारी भाव 'गर्व' किस तरह प्रकट है, इसे बताने की जरूरत नहीं। वात्सल्य का यही भाव और भी खुले रूप में हमें परशुराम में प्राप्त होता है।

कवि अमरेन्द्र ने परशुराम के इस अनुराग का चित्रण सीधे-सीधे नहीं करके कर्ण की स्मृति के सहारे किया है, जिस कारण वर्णन के अनावश्यक फैलाव से मुक्त वात्सल्य का रूप ज्यादा प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। प्रज्ञा पर्व में विभाव के आश्रय के ही अनुभाव नहीं, आलंबन के सात्विक अनुभाव भी खूब खुले हैं। आश्रम से लेकर कीट-दंश तक के चित्र उद्दीपन विभाव भी हैं, जो काव्यरसिकों को वात्सल्य के बहाव

में बहा ले जाते हैं। कर्ण के गुणों से गर्वित गुरु परशुराम का चित्र इस तरह सामने आता है :

और तभी गूँजा सितार का स्वर, समीर पर छाया,
सुधि में खोया कर्णश्रवण से बन पराग टकराया—
"कर्ण कहाँ हो" परशुराम का स्वर फिर से लहराया ?
बैठा वकुल वृक्ष के नीचे कर्ण तुरत ही आया ।
चरणों पर झुकने वाला था, गुरु ने उसे उठाया,
बाहों में भर अतुल स्नेह से फिर तो हृदय लगाया;
रहे मौन ही क्षण भर निश्छल, आँखें बन्द किये ही,
स्वर्णवक्ष को खुले हृदय पर वैसे लिए-लिए ही ।"

—पृष्ठ ५२-५३

ले आए आश्रम में उसको, बैठ गए आसन पर,
कुछ अवसाद, हर्ष भी कुछ-कुछ छाये अब भी मन पर;
पा संकेत कर्ण भी बैठा वहीं गुरु के सम्मुख,
कोने-कोने में सिमटे थे हर्ष-विषाद के सुख-दुख ।
मौन तोड़ते कहा कर्ण से परशुराम ने ऐसे,
गिरि-अन्तः से झरता हो मृदु स्त्रोत सलिल का, जैसे—
"कर्ण प्रात होने में अब तो कुछ ही शेष समय है,
आगे जो भी आनेवाला वह भी निश्चित, तय है ।
"कितना है आश्चर्य समय यह तुमसे हार गया है,
उड़ा विहग जो दो क्षण में ही सागर पार गया है ।
संवत्सर कब एक मास में सिमटा रहा, न ज्ञात,
देखो कर्ण निकल आया रवि, लिये करों में प्रात ।
"जैसे फैल रही है किरणें ऊपर से हो नीचे,
स्वर्णविभा को स्वर्णकोष से लेकर कोई उलीचे;
अब से जीवन खिले तुम्हारा रविप्रकाश-सा, रवि हो,
अग्नि-वज्र हो, वाण-वाणी हो, सचमुच में तुम पवि हो।

—पृष्ठ ५३-५४

अनुराग से भरे ऊपर के अनुबंधों में अनुभाव के दृश्य अद्भुत हैं, जहाँ आश्रय, आलंबन, उद्दीपन, संचारी, सब इकट्ठे होकर वात्सल्य का इन्द्रधनुष बना देते हैं। नीचे प्रजा पर्व के कुछ और अनुबंध प्रस्तुत हैं :

परशुराम चुप हुए, कर्ण भी मौन, करुण था ऐसे,

स्वर्ण शैल पर घिर आए हों मेघ पलों को जैसे ।
प्रमुदित कर्ण झुका चरणों पर साष्टांग नभ-घन-सा,
उतर पड़ा मंद्राचल-मुख से वह गतिमान पवन-सा ।

—पृष्ठ ५५

किशोर कर्ण की शिक्षा पूरी हो चुकी है और गर्वित गुरु परशुराम के वचनों में अभिमान और कल्याण का विभावकत्व पूर्ण रूप से जागृत है, जो वात्सल्य रस को मंद्राचल पर्वत-सा ऊँचाई दे गया है।

करुण रस :

यह मात्र संयोग है या कवि के अवचेतन-चेतन मन का विधान कि कर्ण महाकाव्य का जनुष् पर्व (प्रथम सर्ग) भी पुत्र-विछोह के दुख से आरंभ होता है और अंत पंचता पर्व भी, जो शीर्षक से ही स्पष्ट है, शोक से समाप्त होता है। क्या इस कवि के मन में भी यह भाव समाया हुआ है कि दुःख ही मनुष्य को माँजता है और मानव-मन पर करुण रस का ही प्रभाव सर्वाधिक रूप से होता है; अधिक स्थायी भी या फिर कवि के अचेतन मन की कोई पीड़ा, जिसका उत्तर भी हमें कवि के लघु प्रबंध काव्य आलाप संलाप में मिलता है :

दुख का दुर्ग खड़ा है चारो ओर मनुज को घेरे
एक डेग भी बढ़ो अगर, तो काली आँखे हेरे
दुख-सुरंग के बाहर कोई जगमग देश नहीं है
हो भी, तो क्या दुख के कर में सुख का केश नहीं है
जब प्रपंच ही छलना हो, तो शांति कहाँ से आए
एक डेग भी बढ़ो अगर, तो सर पहले टकराए
मति-प्रज्ञा सब छिन्न-भिन्न, धड़कन भी, थकी शिराएँ
इस उफान में क्यों लगती हैं रोती हुई हवाएँ''
''कैसी थी वह मृत्यु पिता की काली, घोर भयावह
जलती हुई चिता से आती, चीख कोई हो रह-रह
कैसा था कंकाल अनुज का साँसों पर उड़ता था
ठठरी के कोने में दुबका जीवन था कुढ़ता-सा
युग बीते पर बुझी चिता की आग नहीं बुझ पाई
अगम कुआँ के जल पर जो है वह तो बस परछाँई
जल के भीतर जो बैठा है दुख का काला दैत्य
नहीं कभी वह बनने देता तन को, मन को चैत्य
फोटू मुझे दिखाता है वह माँ की हिलती ठठरी

छोटी-सी खटिया पर जैसे—बंधी हुई हो गठरी
और हवन से उठा हुआ ज्यों धुआं चिता का धू-धू
बहने लगता घोर भयावह भय मन में है हू-हू
कर्मकाण्ड के महाजाल में माया का वह नर्त्तन
अवश-विवश उस मेरे मन पर कलि का घोर विवर्त्तन
टूटा हुआ धनुष वेदी पर हविश यज्ञ का अच्युत
उससे भी कुछ अधिक दीन हूँ धरती पर मैं प्रत्युत ।''

—आलाप संलाप —पृष्ठ १४-१५

जो भी हो, प्रस्तुत प्रबंध में करुण रस सिर्फ पंचता पर्व को ही शोक में डुबोते मिलता है, अन्यथा जहाँ कहीं भी यह है, वह संभारी भाव की तरह उपस्थित होता है, जैसे अपने पुत्र अर्जुन के प्रति अनिष्ट की आशंका से ग्रसित कुंती का कर्ण के समक्ष उपस्थित होना। लेकिन जैसा मैंने कहा, यह शोक या करुण रस का अंग नहीं हो सकता।

करुण रस प्रियजन की मृत्यु से उत्पन्न पीड़ा की परिणति होता है, जिसका स्थायी भाव शोक है।

और प्रस्तुत प्रबंध में भी इसका विधान कवि ने उद्दीपन विभाव के जोड़ से शुरू किया है। अंतिम सर्ग का आरंभ कुछ इस प्रकार हुआ है कि इससे ज्ञात होता है—इष्ट के नाश से कर्ण की पत्नी वृषाली अवगत हो चुकी है और आगे की घटना, कुछ ऐसी पीड़ादायक है कि दूत सुनाना नहीं चाहता, तो वृषाली अपने शोक पर नियंत्रण पाती हुई कहती है :

''चुप हुए क्यों, बोलते ही जाओ सब कुछ दूत,
उस समर में धर्म-छल का खेल वह संभूत;
मैं नहीं होऊँगी विचलित, यह वृषाली बोल,
धैर्य ही तो धर्म होता नारी का अनमोल ।''

—पृष्ठ २४७

लेकिन आगे के अनुबंध में ही विकलता, दैन्य, चिंता जैसे संचारी भाव एक साथ खड़े होकर शोक को कुछ और गहरा कर जाते हैं :

''बोलते जाओ सभी कुछ, मैं भी तो लूँ जान,
क्या हुआ, जब अस्त मेरा हो गया दिनमान;
दे गए मेरे लिए भी क्या कोई संदेश ?
इस अभागिन के लिए कुछ आखिरी आदेश ।
''बिंध गये जब तीर से थे, कौन उनके पास ?

दूत बोलो, मौन रह कर मत करो उपहास !
सब सहूँगी, जानती हूँ, कठिन है यह काल,
शीश पर फण काढ़ता दुर्भाग्य का है व्याल ।
''पर बहू हूँ अंग की, क्षत्राणी की हूँ लाज,
जो कहो, सच-सच कहोगे; छोड़ सारे व्याज;
क्या बहुत ही कष्ट में थे, क्या दिखे थे दीन ?
हो रही होगी बहुत ही, देह श्री से हीन ।''

—पृष्ठ, वही

और फिर दूत उद्दीपन के दृश्यों की कतारें बांध देता है :

''धँस गया था अंगपति के कंठ में जब तीर वह,
ग्रीव पर बहता दिखा था रक्त रेखा की तरह ।
आँजलिक था, इसलिए उसका निकलना था कठिन,
पर कहाँ था, एक क्षण भी अंगपति का मुँह मलिन!
''दौड़ कर आए थे केशव ही वहाँ, उनके निकट,
भर लिया था बाँह में, तो वह गए उनसे लिपट,
और फिर कहने लगे, 'बस कुछ समय ही शेष है,
क्लेश मुझको कुछ अगर है, तो इसी का क्लेश है;''

—पृष्ठ २४८

आगे के अनुबंधों में ज्यों-ज्यों समर के दृश्य खुलते जाते हैं, शोक और भी सघनतर से सघनतम होता जाता है। यह उद्दीपन विभाव का विधान भले ही दूत के कथन से हुआ हो लेकिन वह इतना सुस्पष्ट है कि आँखों के सामने की बात हो। निम्नांकित अनुबंधों में संचारी भावों के योग से शोक कैसा और गाढ़ा हो गया है, यह देखना जरूरी होगा। तीर से बिद्ध कर्ण अपनी स्थिति को बताते कृष्ण से कहता है :

'देह यह जेठौर की भू में मिले, निष्पंद हो,
चेतना जो बह रही मुझमें अभी तक, बंद हो;
क्या मुझे यह हो रहा है, क्या दिखे फिर और कुछ,
पाँव पड़ते हैं वहीं पर जिस जगह न ठौर कुछ ।
'चेतना पर छा रही कैसी तो छाया, माधवन,
और उसमें खो रही आभा की माया माधवन;''

—पृष्ठ २५०

अनुभाव सिर्फ उच्छवास, रुदन, गड़ता, स्तंभ ही नहीं होते, मृत्यु को प्राप्त

प्रिय जन का गुण-स्मरण भी अनुवाव ही है और कर्ण के पंचता पर्व में इसी अनुभाव को प्रमुखता मिली है, जो दूत के कथन में तो है ही, वृषाली के शोक में भी यह शामिल है :

यह सुना तो एक क्षण सिहरी वृषाली, देह भर,
प्रश्न क्या पूछा, लगा पीड़ा उठाली, देह भर—
''फिर कहा क्या नाथ ने, आगे की बोलो, दूत !
आज तो मेरे लिए कुछ भी नहीं है छूत ।
''बस मुझे समझो शिला ही, अब कहाँ हूँ देह,
डूबती धरती-नदी, ऊपर बरसता मेह;
पर रुको मत, बोलते ही जाओ सब कुछ, दूत !
क्या किया उसके लिए भी, जो नहीं था हूत ?''

—पृष्ठ २५३

यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि कवि ने अश्रुपात, कंठ अवरुद्ध होना जैसे अनुभावों को दूत से जोड़कर तो दिखाया है, लेकिन वृषाली के साथ नहीं, ऐसा क्यों, तो इसका एक ही उत्तर है कि उसे क्षत्राणी का बोध है, जो स्वाभाविक मानवीय स्वभाव के अनुसार इष्ट की क्षति से शोकग्रसित अवश्य होती है लकिन विलाप नहीं करती, छाती नहीं पिटती। और विलाप नहीं करती, तो उसका एक कारण यह भी है कि :

''थी वृषाली मौन तब क्या बोलती भी उस समय,
था वहाँ पर कौन, जो मन खोलती भी, उस समय,
दूत कहता ही गया था, जड़ बना-सा उस समय
अंगदेवी, मन-विटप पर दुख-कुहासा उस समय।''

—पृष्ठ २५२

वृषाली को स्त्रीजन्य लज्जा दूत के समक्ष चित्कार करने या छाती पीटने से रोकती है। रोने से तो दुःख का भार हल्का ही होता है लकिन रानी रो भी नहीं पा रही।

लेकिन उसके संवादों में उसके मन के हाहाकार को सुना ही जा सकता है, जो बाह्य अनुभावों से कहीं अधिक प्रभावपूर्ण और मार्मिक है। जब वृषाली दूत से उस वृतांत को सुनती है कि घोर पीड़ा के बाद भी नाथ से अपने स्वर्ण दंत को पत्थर से तोड़कर दान में दिया, तो उसके पाषाण बना धैर्य पिघल जाता है :

''यह सुना तो एक क्षण सिहरी वृषाली, देह भर,
प्रश्न क्या पूछा, लगा पीड़ा उठाली, देह भर—

''फिर कहा क्या नाथ ने, आगे की बोलो, दूत !
आज तो मेरे लिए कुछ भी नहीं है छूत ।
''बस मुझे समझो शिला ही, अब कहाँ हूँ देह,
डूबती धरती-नदी, ऊपर बरसता मेह''

—पृष्ठ २५३

अंत में एक बात और कि कि प्रस्तुत प्रबंध में करुण रस के अंग-उपांगों का बहुत विस्तार से वर्णन इसलिए भी नहीं मिलता हो, क्यों कि कवि अमरेन्द्र औचित्य के तथ्य से भली भाँति परिचित हैं, यह कवि संकेत की भाषा का कवि है, कम शब्दों में अधिक-से-अधिक बातों की व्यंजना का आग्रही कवि। इसी से यहाँ करुण रस के विभिन्न अंगों के बोध का भार कवि आस्वादकों पर छोड़ गये है, कुछ शब्द को रख कर, जो बोध के लिए, यंत्र सिद्ध होते हैं :

''चेत में आई वृषाली मन-हृदय को बाँध कर,
दूत से इतना कहा, सब दंश-पीड़ा लाँघ कर—
''कुछ नहीं बोलो, रहा क्या बोलने को, दूत,
क्या छिपा ही रह गया संदेश का आकूत !
''साथ मरने का लिया अधिकार मेरा छीन,
अंगश्री को जोगना है, हो के अब श्रीहीन !
क्या हुआ जो हूँ अभागिन, भाग्य भव का जाग!
मेरे संग में मेरे पति का आज भी अनुराग ।''

—पृष्ठ २५५

''क्यों पड़ूँ मैं इस द्विधा में, इस कथा में,
कौन-सा आनन्द बसता इस व्यथा में ?
मैं तो हूँ राधेय, अधिरथपुत्र हूँ मैं,
बस इसी पहचान से सर्वत्र हूँ मैं।''

—पृष्ठ ३४-३५

आखिर में, जब हम कर्ण महाकाव्य में करुण रस की बात करते हैं, तो हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि महाकवि ने इस रस को स्थान देकर भी उसे उस रूप में प्रस्तुत नही किया है, जो आत्मा की उर्जा को ध्वस्त करता है। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री लौंगिनुस ने भी काव्य में दुःख-शोक की प्रमुखता को काव्य के औदात्य के लिए घातक माना है। निःसंदेह इस महाकाव्य के सम्पूर्ण गंभीर अध्ययन के बाद हम यह कह सकते हैं कि डॉ अमरेन्द्र का सर्जक भी कुछ ऐसी ही धारणा के पक्षधर है, इसीकारण कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में कर्ण उसके सामने अपने ओज को

झुकने नहीं देता। पुनर्नव पर्व, मकर पर्व और पंचता पर्व के आधार पर इस बात को ठीक- ठीक समझा जा सकता है। अगर कर्ण महकाव्य का कोई और कवि होता, तो कर्ण की मृत्यु को विस्तार देकर शोक को परवान देने की कोशिश करता और इसी के सहारे कर्ण की रानियों के शोक का समंदर खड़ा कर देता, लेकिन यहाँ महाकवि ने औदात्य की रक्षा के लिए न केवल एक रूपक के सहारे कर्ण के विजय भाव को दर्शाया है बल्कि वृषाली को भी व्यक्तित्वहीन शोक से ग्रसित होने से एकदम बचा लिया हैं। उसके व्यक्तित्व का उदात्त रूप पंचता पर्व के आरंभ से शुरू होकर अंत तक वर्तमान रहता है, जो अनुदात्त शोक को भी वह सौन्दर्य प्रदान करता है, जिससे आत्मा में संकोच नहीं उत्पन्न होता। देखें :

''देह-मन का धर्म जो, वह कर गए हैं नाथ,
शून्य में दो हाथ के संग हैं करोड़ों हाथ;
मिल रहा है दूर नभ से कुछ मुझे सन्देश,
'प्राण-रक्षा में निरत सब, अब कहाँ विद्वेष !
'नव सृजन, नव कल्पना हित जो हुआ; अनिवार्य,
और अब जो सामने होगा, वही तो आर्य;
सृष्टि को निश्चित मिलेगा कुछ नया आलोक,
कुछ कहाँ अब वाद या प्रतिवाद की है रोक ?'

—पृष्ठ २५६

शांत रस

आचार्य भरत मुनि ने तो शांत रस को रस ही नहीं माना। बाद में कुछ आचार्यों ने इस मान्यता दी भी, तो विवादों का अंत नहीं हुआ। कर्ण महाकाव्य के कृतिकार डॉ. अमरेन्द्र ने भी इस रस को बहुत महत्व दिया हो, ऐसी बात नहीं है, लेकिन इसकी उपेक्षा भी नहीं की है। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, कृतिकार ने क्रोध (रौद्र) और निर्वेद (शांत) में निर्वेद को श्रेष्ठ दिखाया है। प्रज्ञा पर्व में भृगु और विष्णु की एक उपकथा आई है जहाँ विष्णु को लक्ष्मी के संग देखकर ऋषि क्रोधवश विष्णु की छाती पर लात से प्रहार करते हैं, तब :

''उठा चरण को विष्णु-वक्ष पर मारा तत्क्षण कसकर,
मधुसूदन ने लिया चरण को दोनों कर में हँस कर,
और कहा ऋषिवर को हौले 'चोट नहीं तो आई,
क्षमा चाहता हूँ, मैंने जो पीड़ा है पहुँचाई ।''

—पृष्ठ ५१

ऋषि को विष्णु की श्रेष्ठता का ज्ञान होता है। क्या इस उपकथा के द्वारा

कवि उन काव्यशास्त्रियों के समक्ष शांत रस के महत्व को रखना चाहता है, यह इसलिए भी विवेचनीय है कि शांत रस के देवता श्रीनारायण (विष्णु) ही हैं।

जो भी हो, इस प्रकरण से शांत रस का महत्व जितना भी श्रेष्ठ लगता है, कवि अमरेन्द्र का व्यक्तित्व चूँकि प्रकृतिमार्गी का है, निवृत्तिमार्गी का नहीं, इसी से इन्होंने शांत को बहुत ऊँचे स्थान पर यहाँ भी स्थापित नहीं किया। प्रज्ञा पर्व में भी निर्वेद (वैराग्य) को महत्व नहीं है जो ऋषि परशुराम के कारण संभव था और न पंचता पर्व में, जहाँ रानी वृषाली कर्ण की मार्मिक मृत्युकथा सुनने के बाद अपने लिए चिता सजाती या गहरे शोक में डूब जाती, इसकी जगह बचे दायित्व के निर्वाह के लिए सजग होते दिखती है। इतना होने के बावजूद भी मकर पर्व में निर्वेद स्थापी भाव का एक छोटा-सा अंश है, वह शांत रस का उत्पत्तिकारक ही है।

कुरुक्षेत्र की समरभूमि में अनगिनत वीरों की बलि हो चुकी है और यह सब दुर्योधन की भूल के कारण, राज्य और संपत्ति के लोभ के कारण। कर्ण के मन में इस विनाश और क्षुद्र सांसारिक लोभ के कारण निर्वेद का जन्म होता है। वह दुर्योधन से कहता है :

''बचा है कौन-सा भूभाग पूरब का, कहो तो,
लहू से अंग ही क्या, रक्त रंजित है कलिंग तक;
अंधेरे में भटकते शावकों पर हिंस्र पशु की
लगी हो आग जंगल में ही, ऐसी, आँखें भक-भक ।
''पिरामिद शूरमाओं का लगा था आज भारत,
मुझे डर है, कहीं भारत में ऐसा हो न जाए;
दिवस का दीपता सूरज उठा यह तमतमाता,
सदा के वास्ते ही यह तमस में खो न जाए !
''नहीं यह बात केवल पूर्व की है, मित्र मेरे,
यहाँ तो मध्य से पश्चिम क्षितिज तक रक्त लथपथ;
भयानक लग रही हैं डाकिनी-सी सब दिशाएं,
गगन या वारि, वायु, भूमि, पावक, कौन संयत ?
''हुआ है जिस तरह से रिक्त भारत शूरबल से,
बनेगा कौन रक्षक संकटों में ? देवता क्या ?
मिला जो पुण्य बल से तेज, हमसे छुट रहा है,
पता जिसका नहीं अब तक चला, उसका पता क्या ?

—पृष्ठ २२२-२२३

यहाँ कर्ण में निर्वेद भाव की जागृति का कारण संसार की निःसारता,

क्षणभंगुरता नहीं, जो शांत रस का आलंबन समझा जाता है। कर्ण में विरक्ति का कारण पूर्व से लेकर पश्चिम तक के शूरवीरों की भयंकर हानि है। इसी से यहाँ शांत रस के संबंध में जो शास्त्रीय मान्यता की खोज भावक को निराश कर सकती है, जहाँ तीर्थाटन, भजन-कीर्तन वाले उद्दीपन होते हैं। निर्वेद के संबंध में जो कहा गया है कि यहाँ न सुख होता है, न दुख, न कोई इच्छा, न प्रेम, न द्वेष, न राग, न विराग, ये सारी बातें भी यहाँ नहीं हैं।

कर्ण का मन भयंकर जन-हानि से अवश्य समर की ओर से विरक्त है लेकिन यहाँ उसे अपने मित्र दुर्योधन की गलती पर दुख है, जनहानि के कारण बेचैनी है, इच्छाएं भी हैं :

''पड़ा था क्या, अगर जो राज आधा बाँट देते,
रही हैं भूमि किसकी किन युगों में क्रीत दासी ?
शवों के राज पर ही मित्र क्या शासन करोगे ?
सिंहासन, राजसत्ता, राजभोगों के विलासी ।
''पुते सिन्दूर, फूटी चूड़ियों, सित माँग दपदप।
सजाया जा रहा कुरुराज में यह लोक कैसा ?
भला क्यों पूछते हो मित्र मुझसे, मैं दुखी क्यों ?
घड़ी जब हर्ष का हो, ये घुमड़ता शोक कैसा ?
''अगर था बैर मुझको, पार्थ से था, जानते हो,
नहीं विध्वंश ऐसा लोक का मैं चाहता था;
कहीं कुछ चूक तो मुझसे हुई है, मानता हूँ,
धरा नृपहीन होगी इस तरह से, क्या पता था ।''

—पृष्ठ २२३

घटुत्कच पर्व के इन अनुच्छेदों में ऊपर निर्वेद की जो मनःस्थितियां बताई गई हैं, वे नहीं के बराबर हैं। शायद कवि की यह धारणा यहाँ काम कर रही हो कि निर्वेद की स्थिति में भी व्यक्ति विराग के भाव से कटा नहीं रह सकता, फिर कर्ण प्रबंध में यह संभव भी नहीं था क्योंकि यहाँ क्रिया की उपासना है, इसमें मुख्य वीर रस के अनुकूल उत्साह, शौर्य, प्रतिपक्ष में भय पैदा करने के अनुभाव ही प्रबल हैं।

ऐसी स्थिति में यहाँ जो शांत रस का चित्र है, उसे शुद्ध रस की कोटि में नहीं रखा जा सकता, रसाभास की कोटि में अवश्य रखा जा सकता है। वैसे प्रस्तुत प्रबंध में जो शांत रस के अंग-उपांग हैं, उसे आधुनिक वैजानिक मान्यता के आलोक में भी देखने की जरूरत है।

वीर रस

रसपुरुष की देह में श्रृंगार और वीर रस दो आँखें, दो हाथ, दो पैर की तरह प्रमुख रहे हैं। साहित्य में अन्य रसों का चित्रण अवश्य है लेकिन व्यापकता और प्रमुखता की दृष्टि से श्रृंगार और वीर रस कवियों को सर्वाधिक प्रिय रहे हैं। वीर रस की व्यापकता तो इससे भी समझी जा सकती है कि आचार्यों ने इसके कभी तीन भेद, तो कभी चार भेद और अन्य ने तो और भी भेद बताए हैं।

आचार्य भरत मुनि वीर रस के तीन भेद स्वीकारते हैं : दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर, जबकि आचार्य भोज ने सरस्वती कंठाभरण में धर्मवीर की जगह दयावीर को महत्व दिया है। इन आचार्यों से अलग स्वर्ण और श्वेत रंग काले वीर रस के भेदों में दयावीर और धर्मवीर दानों को शामिल कर विश्वनाथ ने इसकी संख्या चार कर दी है और देखा जाय तो अन्य व्यापारों के आधार इस वीर रस के और भी भेद निर्धारित किए जा सकते हैं।

यहाँ वीर रस के संबंध में इतनी बातों का उल्लेख इसलिए भी आवश्यक था कि डॉ. अमरेन्द्र के महाकाव्य कर्ण में वीररस के ये विभिन्न भेद अपनी पूर्णता में वर्तमान हैं।

समर में जब कीचड़ में फँसे रथ के चक्के को बाहर निकालने की कोशिश में कर्ण था और उसके वध का अनुकूल अवसर जानकर जब कृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया, तब कर्ण कृष्ण को धर्म की याद दिलाते कहता है :

कहा कर्ण ने, ''संकट में प्राणों का प्राण-हरण हो,
नीति-धर्म के भी विरुद्ध है, कैसे वही वरण हो।''

—पृष्ठ २३८

और इसके उत्तर में कृष्ण कौरवों के किये अधर्मों को गिना जाते हैं, तो कर्ण भी पांडवों के दर्जन भर अधर्मों को गिना जाता है और साथ में यह भी कि कौरवों के अधर्म को कर्ण से जोड़कर उसे विधर्मी बताना भी अधर्म है। जबकि उसने तो माँ को दिए वचन के अनुसार ही अर्जुन को छोड़, अन्य पांडवों को पकड़ कर भी जीवन दान दे कर धर्माचरण रखा है :

''केशव से क्या छुपा हुआ है धर्माधर्म-कथाएं,
बर्बरीक या भूरिश्रवा की, किसकी कथा सुनाएं !
जो अधर्म है, पांडव दल का धर्म वही दिखता है,
और कर्ण के सत्कर्मों को पाप कर्म लिखता है ।
''भूल रहे हैं, कीचक से द्रौपदी-शील का मर्दन,
कहाँ हुआ था वृहन्नला के निठुर हृदय में कर्दन ?

अश्वसेन की माता को क्या मैंने मार गिराया ?
मैंने नहीं पुरुष के गौरव को है कभी लजाया ।
''माँ को दिया वचन, तो रण में छोड़ दिया पांडव को''

—पृष्ठ १४०

केशव के अनुचित आरोप उद्दीपन की तरह हैं और अपने धर्माचरण पर कर्ण के कथन में स्थायी भाव उत्साह और अनुभाव एवं धृत्ति जैसे संचारी भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित हैं।

धर्मवीर के श्रेष्ठ उदाहरण महाकाव्य के प्रज्ञा पर्व और प्राणदान पर्व में भी देखे जा सकते हैं, जहाँ गुरु परशुराम और माँ कुन्ती के प्रति कर्ण की श्रद्धा चरम पर उपस्थित है।

यूँ तो पंचता पर्व में भी दानवीर का दीप्त उदाहरण प्राप्त है, जहाँ दूत द्वारा घायल कर्ण द्वारा कृष्ण को स्वर्ण दंत देने का वृतांत वर्णित है, लेकिन प्रबंध का पुनर्नव पर्व दानवीर का श्रेष्ठतम उदाहरण है।

कर्ण महाकाव्य में रस विवेचन के संबंध में एक बात का उल्लेख करना जरूरी होगा कि यहाँ आलम्बन प्रत्यक्ष रूपो में भी है और अप्रत्यक्ष रूप से भी उपस्थित किसी पात्र के कथन के सहारे से उपस्थित। बौद्ध दर्शन के अनुसार आलंबन छः प्रकार के हैं : रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्ष और धर्म । किसी के द्वारा वर्णित घटना या पात्र-चित्रण भी आलंबन हो सकता है। डॉ. अमरेन्द्र ने अपने इस प्रबंध में कई बार इसी शब्दाश्रित आलंबन का सहारा लिया। पुनर्नव पर्व में कर्ण के क्वच-कुंडल के दान की कथा अधिरथ के मुख से उपस्थित की गई है, जहाँ सूर्य आलंबन है, अंगदेश की दानपरंपरा उद्दीपन, दृढता आदि संचारी भाव, जो कुल मिलाकर दान के स्थाई भाव उत्साह को पुष्ट करते हैं। अपने पिता सूर्य से समक्ष दान का महत्व रखते कर्ण के वचन द्रष्टव्य हैं :

''कर्ण ने छूए चरण फिर से पिता के,
और बोला, 'आप क्या यह कह रहे हैं, तात;
पुत्र हूँ मैं उस पिता का जिनका जीवन
दान की उज्ज्वल विभा से हो रहा अवदात !
'जो नहीं देते प्रभा इस लोक को तो
पिंड भर होता तमस का, सब अगोचर, हाय;
जब पिता की प्रेरणा ही सामने हो
दान से कैसे डिगूँ फिर, मैं बना निरुपाय !''

—पृष्ठ ८८

और फिर आगे के अनुबंधों में उद्दीपन की छटा है :

“‘कह रहा था, ‘धर्म ही मैंने निभाया है,
दान तो है अंगभूमि की पुरातन रीत;
अंग के बलि और शिवि की वे कथाएँ
दूर गिरि पर ज्यों पहाड़ी गूँजता संगीत ।
‘परशुधर के दान को ही क्यों भुलाएँ,
दे दिया था पृथ्वी को स्वर्णवेदी साथ;
और फिर मंदार पर जो जा बसे थे
द्रोण को भी मंत्र-आयुध दे के खाली हाथ ।
‘पूर्वजों की रीति को रक्खा जुगाकर,
इसलिए तो कवच-कुंडल का किया है दान;
मैं पला जिस भूमि पर, जन्मा जहाँ मैं,
कर सके मुझपर हमेशा देश वह अभिमान ।
‘दान कुंडल-कवच का क्या दान केवल,
इस बहाने रख लिया है हर किसी का मान;
जीत निश्चित कर गया हूँ पार्थ की मैं,
माँ का, गुरु के संग पिता का, कर पितामह-ज्ञान।”

—पृष्ठ १६०

ऊपर वीर रस के अंगों का कुछ उल्लेख इसलिए भी आवश्यक हो गया था कि वीर रस का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष हो सके। वीर रस से संबंध उत्तम प्रकृत्ति के पुरुष का ही होता है, जो समस्त इन्द्रियों से प्रफुल्लित रहा करता है। चूँकि कर्ण महाकाव्य का मुख्य रस वीर रस ही है और जो सीधे कर्ण से संबंध रखता है, इसी से इस पर विभिन्न कोणों से विचारना जरूरी है।

वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का अगर भव्य और पूर्ण रूप इस रस के किसी भेद में देखने को मिलता है, तो युद्धवीर रस में ही, जो हमें इस महाकाव्य में भी भव्यता और विराटता में प्राप्त है।

इस प्रबंध के महाकवि ने युद्ध-संबंधी दृश्यों का वर्णन तो सर्ग बीस से लेकर सर्ग तेईस यानी कूटनीति, घटुत्कच, मकर पर्व से लेकर पंचता पर्व तक फैला हुआ है लेकिन इसकी पृष्ठभूमि महाकवि ने आरंभ के सर्गों से ही बनाना शुरू की है।

कर्ण अपनी किशोरावस्था में ही अपने पिता सूर्य से अस्त्र-संचालन-संबंधी सभी कौशलों से परिचित हो चुका है :

''शूल हो कि हो शतघ्नी, हस्तिवारक,
प्राश हो कि प्राशिका हो या कि हाटक;
कुन्त हो या हो कणय, या और तोमर,
या गदा-संपृक्तला हो, या कि मुद्गर;
''धनुष चाहे ताल हो, शारंग, दारव,
चाप ही वह क्यों न हो जो दिव्य नव-नव,
कार्मुक, कोदण्ड द्रुण जिस भार में हो,
वेणु, या नाराच हो; लाचार में हो ।''

—पृष्ठ ३०

और फिर बची हुई सारी विद्याओं को वह परशुराम से भी सीखता है, इसकी जानकारी हमें गुरु परशुराम के कथन से ही मिलता है :

तुमने सीख लिया है सब कुछ जो अलभ्य है, दुर्लभ,
समझो सभी तुम्हारे वश में, कुछ भी नहीं असंभव ।
''लगन-साधना देख तुम्हारी मैं ही हुआ चमत्कृत,
इतना क्या था सहज, खुलेगा ज्ञान ? भेद से आवृत;
मैंने जो कुछ दिया, दिया है तुमने उससे बढ़कर,
देखेगा संसार स्वर्ग को इसी अचल पर चढ़ कर ।''

—पृष्ठ ५३

आचार्य कुंतक की भाषा में कहें, तो यह महाकवि की प्रतिभा की प्रबंधवक्रता ही है कि आगे जो कर्ण के सेनापतित्व में रण-कौशल प्रदर्शित है, वह अस्वाभाविक न लगे।

नहीं तो वीर रस का वास्तविक आरंभ तो मकर पर्व से ही यानी सर्ग बाईस से ही आरंभ होता है, जो कर्ण के सैन्य-संगठन के दृश्यों से सामने आता है :

रणभेरी का नाद उठा, तो गूँजे गगन-दिशाएं,
पर्वत-वृक्ष लगे; अभिनन्दन में ज्यों हाथ हिलाएं ।
एक दिव्य रथ वही खड़ा था, कर्ण तुरत चढ़ आया,
धवल चंद्र-सा शंख उठाकर घन-सा उसे बजाया ।
भरा सृष्टि का विवर गूँज से महाघोष के बल से,
कौरव के दल पुष्कर में दिखते उत्फुल्ल कमल से ।
और स्यंदन पर फहराती उत्तम श्वेत पताका,
रथ के ऊपर जमी पिघलती दिन में ही ज्यों राका ।
श्वेत अश्व हैं जुते हुए; सदगुण की भीड़ जमी हो,

कुछ भी ऐसा वहाँ नहीं था, जिसकी लगी कमी हो ।
श्वेत पताका पर फण काढ़े चिन्ह नाग का अंकित,
खांडव वन के नागवंश की कथा समूची व्यंजित ।
कवच, शक्ति, तरकश से सज्जित, वाण, धनुष, तोमर से,
निकला है ज्यों महाप्रलय ही शून्य विवर के घर से ।
कहा कृष्ण ने, ''पार्थ जरा देखो तो कर्ण-कला को,
व्यूह सैन्य का करता है भयभीत व्योम-अचला को ।''

—पृष्ठ २३२

आगे के अनुबंधों में मकर के आकार की सेनाओं का वर्णन है, जो महाभारत में वर्णित कर्ण की सेना के समान ही है और पाँच अनुबंधों में बद्ध है।

कर्ण की यह विशाल सेना शत्रु पक्ष में भय उतपन्न करने के लिए काफी है। कवि ने पांडव पक्ष के इस भय को कृष्ण के मुँह से कराया है, क्योंकि पांडवों की विजय और रक्षा का भार तो कृष्ण पर ही है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रौद्र रस, अद्भुत रस, भयानक रस को वीर रस के अधीन माना है या इससे से निष्पन्न। इसी से मकर पर्व में इन तीनों का जाने-अनजाने समावेश हो गया है। कृष्ण के वचन से एक साथ कर्ण के पराक्रम और दुर्बल पांडव पक्ष के भाव प्रकट हैं :

''अभी सामने होना, यानी संकट निकट बुलाना,
किसी मोह के स्वप्न-व्योम में स्वयं को मत भरमाना !
करो प्रतीक्षा उचित समय की, यही कला है रण की,
जल्दीबाजी हुई अगर तो समझो युक्ति मरण की ।''

—पृष्ठ २३४

''पार्थ, कर्ण सचमुच में अच्युत, इसको कौन डिगाए,
खड़ा हुआ है शैलराज, क्या अंधड़ इसे हिलाए
''देखा नहीं, झपट कर कैसे धरा युधिष्ठिर को था,
सूख गया था धर्मराज के प्राणों का ही सोता,
और नकुल तो कोमल-सा पत्ता बन डोल गया था,
इस पर कैसा व्यंग्य कटीला रविसुत बोल गया था ।''

—पृष्ठ २३५

यहाँ वीर रस का स्थायी भाव उत्साह और कंप अनुभाव हैं ओजपूर्ण उक्ति, प्रहार, भय-शंका आदि संचारी भावों के साथ उद्दीपन विभाव का कैसा सुंदर समाहार हो गया है, यह बताने की जरूरत नहीं। मकर पर्व आलोच्य महाकाव्य का ऐसा सर्ग है जिसमें वीर रस के सहयोगी अद्भुत रस ही नहीं है :

"सोचो पार्थ, तुम्हारे रथ का कृष्ण सारथी जब है,
रथ के शीश-शिखर पर बैठा मारुतपूत अलग है;
तब भी कर्ण बाण से रथ को तीन हाथ तक ठेले,
ज्यों अबोध शिशु खेल-खेल में अट्ठा-गोटी खेले ।

—पृष्ठ २३६

और वीर रस के एक भेद धर्मवीर वीर रस का ही सर्ग नहीं—जब कर्ण तक्षक पुत्र को उसके बहुत अनुरोध के बावजूद उसकी सहायता लेने से इनकार कर देता है :

कहा कर्ण ने "उसी आग से मैं भी घिरा हुआ हूँ,
बदले के भावों से मैं तो सर तक भरा हुआ हूँ;
लेकिन कर्ण नहीं यह जाने, एक वाण को फिर से,
बैरी पर साधे दोबारा भीगा कर्म रुधिर से ।
"तब क्या कर्ण अंग का भूपति, धर्म-दान का रवि है,
अश्वसेन, यह कर्ण काव्य क्या, सीधे-सीधे कवि है ।"

—पृष्ठ २३७

दानवीर और दयावीर वीर रस का ही सर्ग नहीं, यह पहले युद्धवीर वीर रस का सर्ग है, जिसमें कर्ण का शर-संचालन, अर्जुन को कृष्ण द्वारा छिपाए फिरना, चिंता, भय, शंका की नुका-छिपी—कहने का अर्थ है कि वीर रस का स्थाई भाव अपनी पूरी भव्यता और सम्पूर्णता में उपस्थित हो पाया है। यहाँ संकटग्रस्त कर्ण के उत्साह का एक चित्र द्रष्टव्य है :

तभी पार्थ का वत्सदंत नाराच गिरा रविसुत पर,
कहो भाग्य ही; निकल गया जो कर्ण-मुकुट को छू कर ।
छिटक दूर जा गिरा मुकुट, तो कर्ण-चेतना जागी,
वीर भेष में लौटा रविसुत, क्षणभर पहले त्यागी ।
लगा काटने वाण पार्थ के एक नहीं दस-दस को,
लगा मेटने अर्जुन के सारे ही अर्जित यश को ।
वश से बाहर देख कर्ण को क्रोध पार्थ का उबला,
छूटा फिर रौद्रास्त्र भयंकर कालानल-सा निकला ।

—पृष्ठ २४१

रौद्र रस :

कवि अमरेन्द्र का प्रस्तुत प्रबंध मुख्य रूप से वीर रस का महाकाव्य है और चूँकि वीर और रौद्र रस के बीच मैत्री संबंध होता है, इसी से यहाँ रौद्र रस की

उपस्थिति अगर वीर रस के साथ ही है, तो अस्वाभाविक भी नहीं।

यहाँ इस ओर भी संकेत कर देना आवश्यक होगा कि करुण रस, शांत और श्रृंगार रौद्र रस के बैरी समझे जाते हैं लेकिन आचार्य भरत मुनि ने रसों में करुण रस के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हुए इसे रौद्र रस के अनतर्गत ही स्वीकार किया है। गैद्र का परिणाम करुण में हो सकता है, इसी से उन्होंने करुण रस का कोई स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। रौद्र का अंत शोक में होता है, इस बात को हम प्रस्तुत प्रबंध के घटोत्कच पर्व और मकर पर्व से भी समझ सकते हैं।

जैसाकि इसका उल्लेख हुआ कि प्रस्तुत प्रबंध के घटोत्कच पर्व और मकर पर्व में रौद्र रस का विधान है लेकिन इसके पूर्व के सर्ग गिरिडीह पर्व में भी रौद्र रस की छटक हमें दिख जाती है।

पर्वत प्रदेश में कर्ण के साथ विहार कर रही कृषाली कर्ण से सामने के ही एक उजड़े जनहीन प्रदेश के बारे में पूछती है, तो कर्ण का उत्तर होता है कि यह लोक नागवंशियों का प्रदेश था जो किसी भौगोलिक विध्वंश के कारण खांडव वन में जा बसे। इस बात की जानकारी देने के क्रम में कर्ण के चेहरे का उल्लास क्रोध में बदलने लगता है और उसके हाथ धनुष-वाण की ओर अचानक ही उठ जाते है :

यह विजन क्यों लोक ? सुनकर जग गई फिर पीर,
बज्र मन को चीरकर बाहर गिरा हो धीर;
सामने जलते विपिन से ज्यों उठा हो धूम,
झूमती लपटें उठीं पछिया हवा को चूम ।
कर्ण ने देखा खड़ा अर्जुन लिए गांडीव,
दूर तक जलता विपिन में मर रहे हैं जीव;
नागवंशी नारी-नर का हो रहा है शोर
कर्ण ने पकड़ा विजय को देख उसकी डोर ।
बड़बड़ाया, ''जीवहंता, नारीहंता, नीच,
जल गया है नागकुल जलते विपिन के बीच ।
साधता हूँ मैं विजय पर लो सँभालो वाण,
तीन लोकों में मिलेगा क्या तुम्हें अब त्राण !

—पृष्ठ १४७

और स्थाई भाव क्रोध के साथ विजय धनुष की ओर कर्ण के हाथों का उठ जाना कितना प्रभावपूर्ण अनुभाव है। उसके वचन से तो उसकी उग्रता साफ-साफ प्रकट है ही। यहाँ आलंबन खांडव वन का विनाशकर्त्ता है। विजत प्रांत उद्दीपन और

स्मृत्ति संचारी भाव।

गिरिडीह पर्व का यह प्रकरण अपने रूप में भले ही छोटा हो, लेकिन रस निष्पत्ति में अचूक।

इससे अलग प्रबंध के घटोत्कच पर्व में रौद्र का जो चित्र-विधान है, वह अधिक विस्तृत होने के साथ-साथ अधिक प्रभावपूर्ण भी है। कर्ण जो कुछ क्षण पहले पुत्रवत् घटोत्कच के प्रति अनुराग से भरा था, जब दुर्योधन से यह सुनता है कि पांडव पक्ष की ओर से युद्धरत घटोत्कच तो अपनी मायावी शक्ति से कौरवों को ही समाप्त कर देगा, दुर्योधन बहुत कुछ सोचकर ही हिडिम्बा पुत्र को उस अग्निपुरुष से तुलना करता है, जो खांडव वन के जलने का कारण बना था :

खंडव वन की स्मृति दिलाते ही कर्ण आग का पिंड बन जाता है। स्थायी भाव क्रोध का अनुभाव भी यही है, पूरे चेहरे का क्रोध से लाल हो जाना :

सुना जो नाम खांडव का, तुरत ऐसा लगा था,
लगी हो आग काया में, धधकती, कर्ण के ही,
तुरत लौटा था अपने चेत में मुट्ठी कड़ा कर,
अभी तक लग रहा था जो सबों में ही विदेही ।
कहा, ''क्या बोलते हो, मित्र मेरे, अब रुको भी,
अभी भी आग खांडव की लपटती, है बुझी क्या ?
सभी हैं पार्थ, जो भी पार्थ के संग में खड़े हैं,

—पृष्ठ २२६

तब कर्ण की स्मृति में घटोत्कच के पूर्व कुकृत्य उभर आते हैं कि किस तरह इसने छल से बलराम की पुत्री का विवाह दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण के साथ होने से रोक दिया था। स्मृति में उठा घटोत्कच का यह अपराध इस तरह वर्णित है :

''मिली जो वत्सला थी पार्थसुत अभिमन्यु को ही,
सुयोधनपुत्र लक्ष्मण को नहीं, तो छल नहीं था ?
निभाई भूमिका थी इस हिडिम्बापुत्र ने ही,
किसी भी वीर नर-सुर की कला का बल नहीं था ।
''हृदय के पुष्प को जिसने मरोड़ा क्रूर कर से,
वधिक के कर्म से ही कर्म यह जिसका जुड़ा है;
तनय यह भीम मुझको लग रहा है पार्थ-सा ही,
अभी कौरव के हित में पांडवों के संग खड़ा है ।
''हृदय के राग का बैरी घटुत्कच प्राणहंता,
मरेगा अब समर में नीच अपने कर्म कारण;

बचा पायेंगे केशव याकि पांडव, यह असंभव,
निकट है काल उसका, मृत्यु सर पर। क्या निवारण ?

—पृष्ठ २२७

इस पर्व में उद्दीपन विभाव का फैलाव है। घटोत्कच का यह रूप :

रुका, देखा क्षितिज के छोर पर वसुषेन ने कुछ,
तमस के बादलों के बीच उड़ता एक पर्वत;
दिखा वटवृक्ष-सा, जो है गगन को नापता-सा
जिधर से वह गुजरता था वहीं का देश अवनत ।
उड़ाए जा रहा है भूमि पर के दुर्ग सारे,
दिशाएं काँपती थर-थर, गगन पट-सा सिहरता;
प्रलय के काल में ज्यों काल सारी शक्ति लेकर
पवन की छाती पर चढ़ कर दिशाओं में विचरता ।
लगा यूँ कर्ण को, वह आ रहा हो गति उड़ाए,
उसी की ओर ही मतहीन हो मतिभ्रष्ट होकर;
लगाएगा अभी ब्रह्मांड को वह क्रोध में आ
अपरिमित शक्ति लेकर सृष्टि भर की, एक ठोकर ।

—पृष्ठ २२६

तो,

हँसा वसुसेन यह सब देख, तत्क्षण फिर संभल कर
उठाया हाथ अपना और फेंका व्योम पर कुछ ,

—पृष्ठ २३०

यहाँ क्रोध का आलंबन, पिशाची कृत्य का उद्दीपन, उपेक्षा से हास्य का संचारी भाव और कर्ण का हाथ उठाकर आकाश पर कुछ फेंकने का अनुभाव सब एक साथ जैसे रस-उत्पत्ति के लिए इकट्ठे हो गये हैं। कवि का यह रस-विधान-कौशल देखने योग्य है।

रौद्र रस की दृष्टि से वर्ण महाकाव्य का बाईसवां सर्ग यानी मकर पर्व और भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्यों कि यहाँ आलंबन रूप में कुछ और नहीं बल्कि प्रतिपक्ष के समर्थक कृष्ण हैं और दूसरों द्वारा किए गये कुकृत्य का कर्ण पर उनका आरोप उद्दीपन विभाव है। कठोर वचनों का आदान-प्रदान ही यहाँ अनुभाव है, बाकी तो आवेग, उग्रता, मद, चंचलता आदि संचारी भाव संवादों के ताप से उद्भाषित होते रहते हैं—इन्हें रुक-कर बताना अनावश्यक ही होगा।

रौद्र का जो मुख्य अनुभाव रक्तिम चेहरा माना गया है उसी को ध्यान में

रखते हुए कवि ने कर्ण की सेना का इस चित्र बनाया है :

‘‘समरभूमि में आ चंचल हो महामकर ही क्रोधित,
अग्रभाग में कर्ण, नेत्र पर शकुनि-उलूक ज्यों लोहित;
मध्यभाग में अश्वत्थामा, जलता भाल अनल हो,
कंठ-मध्य में दुर्योधन की सेना काल प्रबल हो ।

—पृष्ठ २३२

यहाँ रौद्र रस का केन्द्र है समरभूमि। पूर्व शाप या जिस कारण भी हो, कर्ण के रथ का चक्का रक्त के कीचड़ में फँसा हुआ है, जो किसी तरह भी बाहर नहीं निकलता। कर्ण जान गया है अब उसे ही उतर कर चक्के को बाहर करना होगा, इसलिए वह नीचे उतर पड़ता है और उसके वध का यह उपयुक्त अवसर समझ कर कृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

‘‘फँसा हुआ इस रक्त-कीच में अभी कर्ण का रथ है,
और तीर से घायल अँगुली शोणित से लथपथ है;
इस क्षण सोच-विचार किया, तो ग्रास काल का बनना,
मैंने देखा है रविसुत में खांडव वन का जलना ।’’

—पृष्ठ २२८

जिसे कर्ण ने :

‘‘कुछ-कुछ सुना, नहीं सुन पाया लेकिन भेद खुला था,
देख गगन पर गगनस्वामी का झुका हुआ-सा माथा

—पृष्ठ, वही

तो :

‘‘कहा कर्ण ने, संकट में प्राणी का प्राण हरण हो,
नीति-धर्म के जो विरुद्ध है, कैसे वही वरण हो!

—पृष्ठ, वही

और :

सुना कर्ण को, तो क्रोधित हो काल हो गये केशव,
वाणी की है वह्नि शिखा से आग लपटती भक-भक—
‘‘चुप ही रहो, कर्ण मत बोलो, उस दिन धर्म कहाँ था,
भीमसेन को जहर दिया था, तब सत्कर्म कहाँ था ?
‘‘तेरह वर्ष बिता कानन में जब लौटे थे पांडव,
वंचित रखा राज से इनको धर्म समझते तुम सब !
लाक्षागृह का खेल भयावह, बोलो धर्म यही है ?

अभिमन्यु का वध ही बोलो, सत का कर्म यही है ?
कृष्णा का वह चीरहरण, तब बोलो धर्म कहाँ था,
नीति-न्याय के व्याख्याता का तब सत्कर्म कहाँ था ?
आज प्राण संकट में हैं, तो धर्म याद है आया,
ऐसा ही होता है, जब हो निकट मृत्यु की छाया ।''

—पृष्ठ २३८-२३९

तो कर्ण का क्रोध भी उसके उत्तर में उतर आता है। कर्ण के वचन में आक्रोश का यह अनुभाव सर्ग में रह-रह कर उभरता है :

''सुनिए, एक बात का उत्तर आप मुझे क्या देंगे,
पाँच वाण आचार्य द्रोण के; प्रश्न अगर निकलेंगे ?
आप कहेंगे, प्राणों की रक्षा में सब कुछ संभव,
समरभूमि में शोणित कीचड़ बन जाते हैं अक्षत ।
''फिर भी दिये सुयोधन ने जब पाँच वाण को तत्क्षण,
किसका था क्षत्रित्व उजागर, कौन धर्म का तारण ?
जो माँगे प्रतिदान दान का, किये कृत्य की कीमत,
उसके माथे पर केशव क्यों चढ़ा रहे हैं अक्षत !
''रण है, तो क्या धर्म दलित हो एक पार्थ के कारण ?
पुण्य कर्म ठहराए जाएं सभी तरह के मारण ?
अभिमन्यु जो मरा समर में, जीवित क्या लक्ष्मण है ?
दुर्योधन-सुत-समर-शौर्य से गर्वित कैसा रण है !

—पृष्ठ २३९

कर्ण का आक्रोश ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके वचन की उग्रता भी :

''केशव से क्या छुपा हुआ है धर्माधर्म-कथाएं,
बर्बरीक या भूरिश्रवा की, किसकी कथा सुनाएं !
जो अधर्म है, पांडव दल का धर्म वही दिखता है,
और कर्ण के सत्कर्मों को पाप कर्म लिखता है ।
''भूल रहे हैं, कीचक से द्रौपदी-शील का मर्दन,
कहाँ हुआ था वृहन्नला के निठुर हृदय में कर्दन ?
अश्वसेन की माता को क्या मैंने मार गिराया ?
मैंने नहीं पुरुष के गौरव को है कभी लजाया ।

—पृष्ठ २४०

सिर्फ वचन की तिक्तता ही यहाँ अनुभाव के रूप में नहीं है, आंगिक क्रिया के अनुभाव भी इसमें शामिल होते हैं। जब अर्जुन का वाण कर्ण के मुकुट को छूकर लक्ष्यहीन हो जाता है, तो :

लगा काटने वाण पार्थ के एक नहीं दस-दस को,
लगा मेटने अर्जुन के सारे ही अर्जित यश को ।
वश से बाहर देख कर्ण को क्रोध पार्थ का उबला,
छूटा फिर रौद्रास्त्र भयंकर कालानल-सा निकला ।

—पृष्ठ २४१

अनुभाव ही नहीं, उपहास, चिंता, चिंतन के संचारी भाव भी रौद्र रस को पुष्ट करते यहाँ उपस्थित हैं :

मुस्काया फिर एक बार था रविसुत उसी तरह से,
घिरा हुआ साढ़े साती से, बोला निकल गरह से—
''मैं भी सबकुछ समझ रहा हूँ, क्यों अनीति पर केशव,
शिव के मन में जाग गया है, क्यों हठात यह भैरव !

—पृष्ठ २४३

जैसे महाकवि के मन में रौद्र रस के पूरे रूप-स्वरूप की पहचान स्थिर हो, तभी तो वह सिर्फ रौद्र रस के आश्रय, आलंबन, अनुभाव, उद्दीपन, संचारी भावों को नहीं दर्शाते बल्कि रौद्र रस के देवता रुद्र (भैरव) का रूप रखना भी नहीं भूलते। रुद्र ही भैरव और भैरव ही रुद्र हैं। वेद के जो देवता रुद्र है, वही तंत्रशास्त्र में भैरव हैं और अंग प्रदेश तंत्र का ही प्रदेश है, इसी से महाकवि अमरेन्द्र रौद्र रस के क्रम में शिव, भैरव, रुद्र का उल्लेख करते गये हैं :

''शिव के मन में जाग गया हो क्यों हठात यह भैरव!''

महाकाव्य का महाभाव

कोई महाकाव्य अपने उदात्त महाभाव यानी उद्देश्य को लेकर ही महान होता है और डॉ. अमरेन्द्र का प्रस्तुत प्रबंध काव्य अपने उदात्त उद्देश्य को भी लेकर श्रेष्ठ है, महान है। प्रश्न उठता है कि कर्ण महाकाव्य की रचना के पीछे आखिर महाकवि का वह विशिष्ट प्रयोजन क्या रहा है, जो इस प्रबंध को, नायक कर्ण को लेकर रचे गये अन्य महाकाव्यों से अलग और विशिष्ट बनाता है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के लक्षणों पर विचारते हुए लिखा है कि महाकाव्य का सृजन, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की फलप्राप्ति के लिए होता है या फिर मुख्य रूप से एक के साथ अन्य फलों का उसमें समावेश होता है।

तो, देखना यह है कि डॉ. अमरेन्द्र के धर्म या यह कहें प्रबंधकार की दृष्टि में राज्य या राजा का धर्म क्या है और राजनीतिक या सामाजिक दृष्टि से 'अर्थ' का क्या अर्थ हो सकता है।

डॉ. अमरेन्द्र का कर्ण एक स्थल पर केशव से कहता है :

'क्या किया अपराध मैंने, जो लड़ा जनपक्ष में ?
योजनों तक फैले विस्तृत वन सघन के रक्ष में ?
क्या सिंहासन लोक-रक्षा का नहीं संकल्प है ?
आप कहिए, अपने मुँह से, अब समय अति अल्प है।
'क्या यही अपराध मेरा, जो लड़ा वन-जन लिए,
राज का यह धर्म होता, मानिए न मानिए ।
नृप का क्या धर्म केवल, राज्य जीते, यज्ञ हो ?
क्या भला उस देश का हो, जब मुकुट ही अज्ञ हो।

'सोचिए केशव, उजड़ते ही रहे वन-जन अगर,
क्या कभी रुकने को है, कल-आज का ही यह समर?
कर्ण का यह शीश-छेदन; प्रश्न का क्या अंत है ?
वन-जनों का जो विरोधी, क्या वही कुलवंत है ?

—पृष्ठ २४८

कर्ण महाकाव्य में इसी राजधर्म को महाभाव के रूप में देखा जाना चाहिए, और है भी।

यह समझना कि कर्ण ने दुर्योधन के साथ मित्रता निभाने के लिए उसे युद्ध में साथ दिया, गलत होगा। वह तो दुर्योधन की उस नीति का विरोधी ही है कि पांडवों को राज्य का हिस्सा न मिले। वह एक स्थल पर खुलकर कहता है कि उसका विरोध सिर्फ अर्जुन से है, वह भी इसलिए कि उसने न केवल खांडव वन को ही जलाया है, बल्कि वन के वनवासियों के जीवन को समाप्त कर दिया है :

''लेकिन कैसे छोड़ूँगा संकल्प अधूरा रण में,
खांडव-नागों के वैरी को अभी ग्रसूँगा क्षण में ।
रथ का चक्का धँसा हुआ है, धँसे, और धँस जाए,
चाहे मेरे प्राणों पर बंधन जितना कस जाए ।

—पृष्ठ २४५

कहना न होगा कि आलोच्य महाकाव्य का यह महाभाव 'उद्देश्य' आज के जलते सामाजिक और पर्यावरण से जुड़ा सवाल है, जिससे आज पूरा विश्व हीं जाने-अनजाने जूझ रहा है।

कर्ण महाकाव्य में यह महाभाव अचानक अंतिम सर्ग में उपस्थित नहीं होता, बल्कि इसे बीज रूप में आरंभ से ही देखा जा सकता है :

''वह जो सबसे दीन है और दलित है जो,
पर सुकर्मों से सुधामय ललित है जो;
उसकी रक्षा में तुम्हारे प्राण अर्पित,
जो मुझे था, कर दिया सारा समर्पित ।

—पृष्ठ ३१

प्रज्ञा पर्व में परशुराम कर्ण से कहते हैं :

''देव-वंश जो न्याय-नीति के पथ का है अनुगामी,
नर में नारायण के सारे दिव्य गुणों का स्वामी;
उसकी ही रक्षा में अब से अस्त्र लगे ये सिद्ध,
और नहीं तो लौट आएगा मुझसे हुआ समिद्ध।''

—पृष्ठ ५५

अगर 'स्वप्न पर्व' में वनवासियों के निष्कलुष जीवन की प्रशंसा है :

''विपिन खांडव नहीं बस, एक जंगल पशु भयावह का,
वहाँ तो बस रहे हैं नागकुल के लोग सदियों से;
बहुत भोले अहिंसक, जाने कब ये अंग से आए,
रखा है दूर अपने को बहुत ही भूमिपतियों से ।
''नहीं ये जानते पुर के नियम-बंधन या भूपति को,
किसी का छीनकर जीना इन्हें न आजतक आया;
लुटाते ही रहे हैं ये हृदय के प्यार-खुशियों को,
जहाँ पर जेठ को देखा वहीं मन मेघ बन आया ।
''नहीं इनको सिंहासन चाहिए, न धन-प्रतिष्ठा ही,
जरूरत भर मिले तो इनका मन-सागर उमड़ता है;
कभी भी भोग, यश, वैभव के पीछे ये नहीं दौड़े,
किसी की आँखों में इनका भला क्यों मोद गड़ता है ?
''वनों को पूजते जो और वन ही घर-बिछौना है,
कुसुम के देश के ये नील श्यामल आदिवासी हैं;
कभी समझा न खांडव वन को भूमि यह पराई है,
भले मंदार-वन से ये यहाँ आए प्रवासी हैं ।
''कहाँ कुछ भेद ही जाने, नगरवासी नहीं है ये,
धरा पर स्वर्ग के संदेश हैं, मन की कहानी हैं;
मिला था जिनको भुजबल से अमिय का कुंभ सागर में,
उन्हीं व्रतधारियों के वंश की ये भी निशानी हैं ।

—पृष्ठ ९९-१००

तो वन और वनवासियों की रक्षा में कर्ण का यह वचन स्वप्न पर्व में ही द्रष्टव्य है :

''फड़कती है भुजाएँ मेरी ये आँखें फड़कती हैं,
हुआ ऐसा अगर, जो स्वप्न में मुझको दिखा है अब;
भले ही कृष्ण का हो साथ अर्जुन को न छोड़ूँगा,
जला खांडव अगर, तो नाश उसका भी लिखा है अब ।

—पृष्ठ १०३

आगे कर्ण कहता है :

''जो धरती पर सुख की छाया, साँसें हैं वसुधा की,

वन की ममता अगर मिले, तो कहाँ रहा कुछ बाकी!
उसी विपिन को लील लिया है पांडव की इच्छा ने,
घेर लिया है मन-प्राणों को कैसी इस पृच्छा ने !

—पृष्ठ १०८

''फिर तो कुछ करना ही होगा जितनी जल्दी हो यह,
बाहुशक्ति के लिए भला क्या ऐसा भी है दुर्बह !
क्या होता है, कृष्ण अगर अर्जुन के साथ खड़े हैं,
वन-वनवासी हित न समझें, कैसे कहें बड़े हैं ।

''राज्य हितों में भोले जन का हित कुचला जो जाए,
राजसिंहासन सम्राटों का भला ठहर कब पाए ?
और नीति जब यही राज की, सीमा बढ़े, बढ़े धन,
ज्वालाओं के बीच भले ही जलते रहें अकिंचन ।

—पृष्ठ ११०

गिरिडीह पर्व में जब वृषाली नागवंशियों के उजड़े प्रांत के बारे में पूछती है, तो कर्ण को सहसा खांडव वन में जल गये नागवंशियों का ख्याल आ जाता है और ख्याल आता है, तो उसका हाथ धनुष पर अपने आप चला जाता है :

कर्ण ने देखा खड़ा अर्जुन लिए गांडीव,
दूर तक जलता विपिन में मर रहे हैं जीव;
नागवंशी नारी-नर का हो रहा है शोर
कर्ण ने पकड़ा विजय को देख उसकी डोर ।
बड़बड़ाया, ''जीवहंता, नारीहंता, नीच,
जल गया है नागकुल जलते विपिन के बीच ।
साधता हूँ मैं विजय पर लो सँभालो वाण,
तीन लोकों में मिलेगा क्या तुम्हें अब त्राण !

—पृष्ठ १४७

इस तरह स्पष्ट है कि कर्ण महाकाव्य अपने समकालीन प्रश्नों और शासको के राजनीतिक दायित्व-धर्म को लेकर न केवल कर्ण के जीवन पर आधारित प्रबंधों से भिन्न है, बल्कि अधिक प्रासंगिक भी। वैसे इस प्रबंध में भी दलित चेतना को भी अगर स्वर मिला है, तो आश्चर्य नहीं। डॉ. अमरेन्द्र का अंगिका महाकाव्य 'गेना' एक दलित पात्र को ही लेकर लिखा गया प्रबंध है, जिसमें इस वर्ग की मानसिक पीड़ा उजागर हुई है। इस महाकाव्य में मृत्यु के निकट पहुंचा कर्ण जब कृष्ण से यह

कहता है :

'और भी कुछ है निवेदन, मानिए न मानिए,
वंश से जो दीन है, केशव, उन्हें पहचानिए ।
'पर्वतों की नींव में हलचल हुई, तो शांत क्या,
रह सकेंगे शिखर कहिए, रह सकेंगे प्रांत क्या ?
जाति से, जो हीन उनका जल्द ही उद्धार हो,
उनके कुल में भी कभी भगवान का अवतार हो ।'

—पृष्ठ २४८

तो इसमें दलित चेतना की हीं झलक मिलती है। लेकिन यह भी सत्य है कि इस प्रबंध का महाभाव प्रकृति और आम जन के बहाने वनवासियों का राजनीतिक संरक्षण ही है, जिसमें पारिवारिक-सामाजिक जीवन का सुरक्षा भाव भी समाहित है, जो पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-संतान, गुरु-शिष्य, के नैतिक संबंधों से यहाँ उजागर है। ये काम भाव के ही विभिन्न रूप हैं, जो कर्ण महाकाव्य में अपनी भव्यता के साथ उपस्थित हैं। कह सकते है कि मीमांसा दर्शन में जिस गार्हस्थ यज्ञ के अन्तर्गत पाँच यज्ञां की प्रमुखता बताई गई है, उसका यहाँ समर्थन भी है, लेकिन लोकायत के उस मत की स्थापना सबसे पहले कि पारलौकिक चिंता से अधिक इस लोक को स्वर्ग बनाना जरूरी है :

''वह जो सबसे दीन है और दलित है जो,
पर सुकर्मों से सुधामय ललित है जो;
उसकी रक्षा में तुम्हारे प्राण अर्पित,
जो मुझे था, कर दिया सारा समर्पित ।
''और जो आगे मिलेगा, साधना से,
माँ, पिता, गुरु की मिलित आराधना से;
अंग की पावन ये धरती हो समुज्जवल,
स्वर्ग के सुन्दर सरोवर में, ज्यों उत्पल ।
''भूमि, वन, नदियाँ, हवाएं सुख से सिहरे,
आज से न प्राणियों के प्राण हहरे;
अब तुम्हारी रश्मियाँ ही घेर ले जग,
हो जहाँ तक, उस जगह पर ज्योति जगमग ।
''हो निशा के वक्ष पर शशि पूर्णिमा का,
देवता-सा हो हृदय पुलकित अमा का ।
लौट आए सत्य का युग देह धारे,

उठ अतल से प्राण-आज्ञा के सहारे ।

—पृष्ठ ३१

और इसके लिए लोकहित के विरोधी को दंडित करना एकदम उचित है, जिसका समर्थन चाणक्य का 'अर्थशास्त्रम्' भी करता है।

आंचलिकता और उत्तर आधुनिकता

उद्देश्य को ही लेकर एक बार जब मैंने डॉ. अमरेन्द्र से पूछा, क्या इस चंपा मोह के पीछे उत्तर आधुनिकता की अवधारणा तो सक्रिय नहीं, तो उन्होंने कहा था, यह भी हो सकता है कि वह मेरे अवचेतन में कहीं हो, जो काव्य में उभर आया हो। आप कह सकती है कि कर्ण जब अखंड भारत की जगह सिर्फ पूर्वी भारत यानी महाचंपा की बात करता है, खांडव वन के सहारे आदिवासियों की बात करता है, माता कुंती के नाम पर कर्ण बहुत संवेदनशील हो उठता है, तो कहीं-न-कहीं उत्तर आधुनिकता की अवधारणाओं की गूंज ही वहाँ निहित है, जो कभी नगाड़े पर चोट की तरह बजती है ।

लेकिन इस बात के बावजूद हमें याद रखना होगा कि यह प्रबंध मूल्यों के प्रति असमर्थन का प्रबंध काव्य नहीं है ।

प्रकृति और पर्यावरण

कर्ण काव्य की मीमांसा के क्रम में आलोचकों का ध्यान इस प्रबंध में प्रकृति के पर्यावरण की उपस्थिति पर कम ही ध्यान गया है या फिर गया ही नहीं। शायद इसका एक कारण यह हो कि डॉ. अमरेन्द्र के अंगिका महाकाव्य 'गेना' में जिस तरह से प्रकृति की उपस्थिति है, वैसा यहाँ नहीं। लेकिन ऐसा भी नहीं कि यहाँ कवि ने नगर और राजनैतिक वातावरण के चित्रण में प्रकृति की उपेक्षा की हो।

अगर ऐसा होता, तो फिर इस प्रबंध का नायक राधेय को बार-बार प्रकृति की ओर, वन की ओर भागते नहीं पाते। वनों के बीच उसके प्राणों को खुलते-खिलते नहीं देखते। शायद इस ओर किसी आलोचक का ध्यान ही नहीं गया। अवश्य ही डॉ. कल्पना पाण्डेय ने बीज पर्व के बहाने इसकी ओर संकेत किया है।

कर्ण का मन राजभवन में नहीं, वनों के बीच, वृक्षों के बीच लगता है। वह देर रात तक उसके बीच ही रहना चाहता है, तो इसके पीछे भी काव्यकार का यह बताना ही है कि जीवन की वास्तविक शांति नगर और राजभवनों में नहीं पलती, वह तो प्रकृति के बीच पलती है। नगर का जीवन तो कोलाहल, संघर्षों, छल-छद्मों का जीवन होता है, जिसे कवि ने हस्तिनापुर के जीवन को सामने रख कर दर्शाया है। मनुष्य को अगर प्राकृतिक या मानवीय सौन्दर्य से मिलना है, तो उसे प्रकृति की ओर लौटना होगा। प्रकृति तो सौन्दर्य, संगीत और शांति का कोष हुआ करती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत महाकाव्य का संक्रांति पर्व अधिक विचारणीय है, जहाँ कर्ण वन के वृक्षों की प्रशंसा में मुक्त जीव की तरह प्रसन्न दिखता है :

मुग्ध खोई थी वृषाली और भी वसुषेन,
हर्ष से पुलकित कहा, ''यह सब पिता की देन—

यह खड़ा जो मेघवन है, वंश-कुल की छाँह,
आँधियों का यह शयनगृह, बादलों की बाँह ।
''कौन-सा है वृक्ष ऐसा जो यहाँ पर है न ?
सब दिशाओं और दिकपालों के बँधते नैन;
मैं करूँ किसकी प्रशंसा, कौन इनमें हीन,
रूप-गुण में कोई भी किससे कहाँ है दीन ।
''प्राण, से प्यारे अधिक हैं ये समुन्नत शाल,
छू नहीं सकता जरा जिसको, न जिसको काल;
ये सघन से देवदारु, नागवंशी बाँस,
बाँसुरी के बोल में बजती हैं जिनकी साँस ।
''स्नेह के सींचे हुये ये सल्लकी, सिंधुआर,
जिनके नीचे झुरमुटों में सज रहे कचनार;
या कि लगता है मुझे हर बार-ही-हर बार,
मेरी बाँहों में तुम्हारा सो रहा है प्यार ।

—पृष्ठ ८२-८३

इसी कारण अवकाश मिलते ही वह वृषाली के साथ पर्वतों का प्रांत जा पहुँचता है, जहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर स्वयं कृषाली अचंभित है, आश्चर्यचकित हैं :

''ये कहाँ ले आए रथ को हाँकते अब नाथ ?
किस तरह गिरि शोभते, पकड़े हुए ये हाथ !
वन सघन देखा था मैंने पर न गिरि का प्रांत,
झूमती नदियाँ हैं, लेकिन फिर भी कितने शांत !
''बादलों से बात करने को विकल ये वृक्ष,
क्या यही पर्वत वही है, जिसको कहते ऋक्ष ?
गिरि-शिखर से बात करते ऊँचे उठते पेड़
देख कर यह मेघशावक आके जाते छेड़।
''लग रहा है बादलों से ये करेंगे बात,
यह सघन छाया कि जैसे हो रही हो रात ।
पर्वतों पर लोटतीं नदियों का मधुमय राग
डीह गिरि का देख पाई, धन्य मेरा भाग !

—पृष्ठ १४१

कर्ण काव्य की प्रकृति कोई जड़-निर्जीव पदार्थ नहीं, वह व्यक्ति की तरह

संवेदनशील है। यहाँ प्रकृति का मानवी रूप चित्त को कितना आह्लादित करनेवाला बन पड़ा है :

चीर चली है गाती कजरी, बड़ुआ झूमर गाए,
चैती गाते देख क्यूल को, कोयल खूब लजाए;
स्वर्णसरित कोयल के स्वर में पंचम राग निकाले,
अजय, मोरखी इस अवसर पर कैसे हर्ष सँभाले !
आज मान का मान शिखर पर हर्षित कलकल-छलछल,
महानाद-सी रीगा की भी लहरों में है खलखल;
शक्तिमती की खुशियों की सीमा है कहाँ दिखाती,
आज ब्राह्मणी, बंसलोई को कितना है हर्षाती ।
अंग देश की सीमा में नदियों का कैसा उत्सव,
उधर मेघ-मालूर वनों में चिड़ियों के भी कलरव;
चम्पावन में मौलसिरी का मेला लगा हुआ है,
बिना किसी रमणी को देखे कुरवक खिला हुआ है ।
कोविदार, कचनार, प्रियंगु का, केसर का है मेला,
बैठा है अवसाद कहीं पर बिल्कुल अलग अकेला;
कहीं शिरीष हँसी से पागल, कहीं केतकी गमगम,
चम्पा की माटी झूमर-सी नाच रही है छमछम ।
अंगदेश के सागर-तट पर ज्वारों का है उत्सव,
भाटाओं पर लहरें नाचे; ज्यों शिव का हो तांडव,
ऊँचे-ऊँचे पर्वत के आनन पर हँसी थिरकती,
किसी दिशा से चले हवा, बहने के पूर्व सँवरती ।

—पृष्ठ १२८-२६

काव्य में प्रकृति के पर्यावरण के चित्रण के क्रम में यहाँ न केवल प्रकृति के मानवी रूप उपलब्ध होते हैं, बाल्कि इसके अलंकार रूप भी बहुलता में प्राप्त हैं :

पत्तियों से फूटता संगीत, जैसे;
गूंजते हैं स्वर किसी के मंद्र लय से ।

—पृष्ठ १७

वैसे जहाँ-जहाँ भी प्रकृति अपने उद्दीपन रूप में उपस्थित है, वहाँ-वहाँ भी यह मन को कम बाँधनेवाली नहीं। कहीं-कहीं यह अतीत की किसी धूमिल स्मृति को और भी गाढ़ा करती है। गिरिडीह पर्व में उद्दीपक प्रकृति का ऐसा ही एक चित्र इस प्रकार है :

''ठीक ही तुमने कहा, यह धन्य सचमुच धाम,
काटती नदियाँ चका हैं, हो चकित अविराम ।
और पंचानन की सबसे ही अलग यह धार
ढो रही हैं नील मणि-सी; ये शिलाएं, हार ।
''बढ़ रही किस वेग से हैं मेघवन की ओर,
घेरती गिरि-डीह को है, बासुकी की डोर;
युग हुए, आखेट में जब मैं भटकता भ्रांत,
आ गया था मैं अकेले ही विजन यह प्रांत ।
''क्या कहूँ कैसा लगा था, क्या हुआ था बोध,
टूट कर जैसे बहा हो कुछ कहीं अवरोध ।
इस नदी की धार से कहता मुझे था कौन,
याद आई जन्म की मेरी कथा, जो मौन ।

—पृष्ठ १४६

प्रस्तुत महाकाव्य में प्रकृति का जितना, और जो भी अंश प्रकट है, उससे इतना तो संदेश मिलता ही है कि प्रकृति जीवन को देनेवाली है। माँ से अलग कर्ण गंगा को भी माँ ही मानता है। नहीं मानता, तो दुख के क्षणों में वह गंगा के तट पर क्यों पहुँच जाता है। अपनी प्रिया से गंगा के लिए कहीं गई ये पंक्रियाँ द्रष्टव्य हैं :

''मैं ऋणी भागीरथी का, माँ मेरी रक्षक रही,
जन्म की मेरी कथा उसने ही पहले थी कही;
जो नहीं लहरें संभाले साथ चलती, क्या पता,
मैं कहाँ होता, न होता, किस अतल में लापता ।
''पुण्य की माता धरा पर सब दुखों को हर रही,
सृष्टि के आरम्भ से ही स्वर्ग इसको कर रही;
जो मृत्यु को जीव देती, शक्ति देती, पाप हर,
जो क्षमाशीला रही है सुर-असुर के शाप हर ।''

—पृष्ठ ७६

कर्ण काव्य में ज्येष्ठ गौड़ पर्वत हो या मंदार पर्वत, अपने सम्पूर्ण सांस्कृतिक-प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ उपस्थित हैं :

''अहो! अचानक अंगभूप, क्यों आना हुआ यहाँ पर ?
आ पाते हैं सिर्फ पवन ही, खग ही, मेघ जहाँ पर !
तपियों का यह स्वर्ग, धरा पर निधि-सा मंद्राचल है,

मोक्ष-मुक्ति का धाम, स्वर्ग का खिलता नील कमल है!

—पृष्ठ ४४

ऐसे में यह सहज ही जिज्ञासा बनती है कि इस महाकाव्य में प्रकृति के जो उदात्त रूप प्राप्त हैं, वे क्या महाकवि की कल्पना की उपज भर हैं या फिर इसके पीछे कोई ऐतिहासिक प्रेरणा का बल भी रहा है? तो इसके उत्तर में यही कहा जायेगा कि प्रस्तुत काव्य में प्रकृति के जिस पर्यावरण को उतारा गया है, उसके पीछे तो सीधे-सीधे प्राचीन अंग के प्राकृतिक परिवेश की ही प्रेरणा है, जिसका उल्लेख डॉ. अमरेन्द्र के रेडियो रूपकों के संग्रह 'अमृत देश : अंग प्रदेश' में भी मिलता है। देखें :

रयणायरु णावइ सायरु ताह चम्पापुरु छज्जइ
तहिँ मणोज्जु रिद्धीएँ समिद्धउ अत्थि देसु अंगउ सुपसिद्धउ।
निविडण्णेण्णु भिडिय गुरुअज्जुण दुज्जोहणसुभीमगयकयरण।
सरहभीसवाणवलिछाइय भारहसरिस जेत्थु वणराइय।
सुविसालाइँ सिसिरसाहालइँ अविरलसुरहिपसवसोहालइँ
तरुणिकालयग्गिरपोमरयइँ जहिँ उववणइँ व गोउलणियरइँ।
खत्तसारपरिसाहिय खेत्तइँ बहु करिसणइँ ललियकरजुत्तइँ।
णियवइरक्खियाइँ दिढकच्छइँ जहिँ गामइँ सामंतसरिच्छइँ।
सुरयणपरियंचियकललाणइँ जहिँ जिणवरसरिसइँ पुरठाणइँ।

(भारतक्षेत्र में मनोज्ञ, ऋद्धि से समृद्ध व सुप्रसिद्ध अंगदेश है । वहाँ के वनों में बड़े-बड़े विशाल अर्जुन वृक्ष परस्पर ऐसी सघनता से भिड़े हुए हैं, जैसे—मानो गुरु द्रोणाचार्य और अर्जुन परस्पर युद्ध में भिड़े हों । बड़े भीमकाय गज रण में ऐसे गुथे हुए दिखाई देते हैं; जैसे, दुर्योधन और भीम गदायुद्ध कर रहे हों । इस प्रकार अंगदेश की वनराजि महाभारत सदृश दिखाई देती है। वहाँ गोकुलों के समूह; सुविशाल और शीतल दधिशालाएं; निरन्तर गौओं द्वारा प्रसूत बछड़ों की शोभा—वहाँ के उपवनों के सदृश्य ही दिखाई देती है, जहाँ सुविशाल, शीतल शाखालय हैं, निरन्तर सुगन्धित पुष्पों की शोभा है, तथा वृक्षों के समूहों पर पुष्पों की रज लगी हुई है। वहाँ गाँवों के खेत उत्तम खाद से खूब उर्वर बनाए गए हैं। वहाँ के नगरस्थान विपुल रत्नों से युक्त एवं सब प्रकार कल्याणपूर्ण हैं। ऐसे उस अंगदेश में चम्पापुर नाम का नगर रत्नों का निधान होने से रत्नाकर के समान शोभायमान है। वहाँ अनेक देवालय हैं और वे पण्डितों से मनोहर होते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे, बहुत से विमानों से युक्त तथा देवों से मनोहर देवेन्द्रपुरी ही हो ।)

—पृष्ठ १३३-१३४

कोई शक नहीं कि कर्ण काव्य में प्रकृति भी परिवार की तरह ही यहाँ चित्रित है और अगर ऐसा नहीं होता कि तो यहाँ पात्रों के सुख-दुख के साथ प्रकृत्ति इस तरह संवेदनशील होती नहीं दिखती। मुझे तो लगता है कि जब किसी पीड़ा से विचलित होने की स्थिति में कर्ण अपने में वर्ष के सभी माहों को देखता है, तो इसके पीछे जो भी मनोवैज्ञानिक कारण हो लेकिन एक बात यह भी है कि दुख की स्थिति में प्रकृति भी प्राणियों का मजबूत संबल बनती है :

आँखें बंद हुई पल भर को, नभ की ओर निहारा,
भीगे मन से पृथापुत्र ने रवि को निरख पुकारा
देखा, उतर रही हैं किरणें, नीली, पीली, रक्तिम
हरी, बैगनी, नारंगी, आकाशी—गाढ़ी, मद्धिम,
धाता, मित्र, वरुण, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा,
उतर रहे हैं उसके मन में विष्णु रूप धर स्रष्टा;
उसके सर पर उषा, प्रभा, छाया का छायातप है,
होने लगा हृदय में उसके पिंगल अजपाजप है।

—पृष्ठ ६२

'कर्ण' में प्रकृति सिर्फ अपने सौम्य रूप में ही नहीं, अपने विकट रूप को आभास कराती भी उपस्थित है । 'गिरिडीह' पर्व में प्रकृति के दोनों रूपों का हमें दर्शन होता है :

''बादलों से बात करने को विकल ये वृक्ष,
क्या यही पर्वत वही है, जिसको कहते ऋक्ष ?
गिरि-शिखर से बात करते ऊँचे उठते पेड़
देख कर यह मेघशावक आके जाते छेड़।
''लग रहा है बादलों से ये करेंगे बात,
यह सघन छाया कि जैसे हो रही हो रात ।
पर्वतों पर लोटतीं नदियों का मधुमय राग
डीह गिरि का देख पाई, धन्य मेरा भाग !

—पृष्ठ १४१

''फिर अचानक एक दिन टूटा प्रलय का वेग,
ज्वार सागर के यहाँ पहुँचे बढ़ाए डेग;
गिर गये प्रासाद पत्थर के, गिरे सब कोट,
बिछ गया जंगल धरा पर खाके उनकी चोट ।

—पृष्ठ १४८

परिवार

जो हो, कर्ण काव्य में वन्य पर्यावरण से अलग जिस परिवारिक पर्यावरण का चित्रण हुआ है, वह तो किसी मोहक लोकगीत से कम नहीं है। फिर परिवार भी यहाँ किसी एक रूप में नहीं है, वह विविधता में वर्णित है, जिसे निम्नांकित रूपों में देख सकते हैं :

१. माता-संतान का संबंध
२. पिता-पुत्र का संबंध
३. माता-पिता के प्रति संतान का व्यवहार
४. पति-पत्नी का संबंध
५. स्त्री-पुरुष का संबंध
६. बुजुर्ग-व्यस्क-संबंध
७. वनवासियों से प्रति संबंध
८. पशु-पक्षियों के प्रति प्रेम
९. शील का सौन्दर्य
१०. लोकाचार-लोकास्था
११. गुरु-शिष्य संबंध

(१) माता-संतान का संबंध

चाहे जिस सामाजिक भय या अपराध बोध के कारण कुंती को अपने नवजात शिशु से अलग होना पड़ा हो, लेकिन उसके वात्सल्य में कहीं से कोई नहीं आई। पुत्र को मंजूषा में डालकर जब वह नदी में उसे छोड़ आती है, तब पुत्र के सुरक्षित जीवन के लिए वह कितना विकल है, किस-किस देव से क्या-क्या नहीं माँगती हैं—प्रहरी के लौटने की प्रतीक्षा तक। जनुष् पर्व में माता-संतान के इस उदात्त संबंध को देखा जा सकता है :

रात की बेला सघन थी, पृथा चिन्तित,
थी बहुत आश्वस्त लेकिन भय भी किंचित—
"क्या हुआ जो लौट कर आया न प्रहरी ?"
मन की शंका हो रही थी और गहरी—
"क्या हवा अनुकूल होकर बह न पायी ?
क्या वरुण ने राह में बाधा उठायी ?
क्या दिशा भटका गई संकेत-पथ को ?

कौन रोके यह खड़ा है समय-रथ को ?
''क्या हुआ जो लौट कर आया न प्रहरी''
मन की शंका और गहरी और गहरी ।
लग रहा था एक युग-सा एक क्षण तक,
बन के पर्वत ही खड़ा हो, एक कण तक ।

—पृष्ठ ११

संतान के प्रति माता का यह वात्सल्य आधुनिक हिन्दी साहित्य में दुर्लभ-सा ही है। यही कुंती जब प्राणदान पर्व में कर्ण के समक्ष उपस्थित होती है, तब उसका वात्सल्य किस तरह उमड़ता है। यह माँ के वात्सल्य की निर्मलता ही है कि उसकी पुकार चारो ओर फैल जाती है।

इसके पूर्व भी हस्तिनापुर में जब जाति के कारण कर्ण को अपमानित करने की राजनीति चल रही थी, तो वहाँ भी माँ का हृदय मौन नहीं रह पाता :

''यह अधर्म है, प्रश्न व्यर्थ है, वीरों का अपमान,
तेजपुंज जब प्रकट; यही तो क्षत्रिय की पहचान;
कहे नहीं क्या स्वर्ण कवच-कुंडल की आभा परिचय?
देववंश का प्रकट अंश है, शक क्या। यह तो निश्चय।
''और यही कल अंगदेश का नृप भी होगा घोषित,
चम्पा नरेश अधिरथ की रानी राधा से है पोषित ।''
रंगमंडप में गूँज गया स्वर नारी का गंभीर,
जो प्रकोष्ठ से आया था रानी का, बहुत अधीर ।

—पृष्ठ ६१

संतान के प्रति माता का ऐसा ही हृदय होता है।

(२) पिता-पुत्र का संबंध

कर्ण काव्य में सिर्फ माँ और संतान के बीच का संबंध ही चित्रित नहीं है, कवि ने संतान के प्रति पिता के कर्त्तव्य और वात्सल्य को भी उतनी ही प्रमुखता से चित्रित किया है। राधा-अधिरथ के यहाँ पल रहा कर्ण जैसे कुछ बड़ा होता है, सूर्य वहाँ पहुँचते हैं और दोनों से कुछ अर्वाध के लिए कर्ण की माँग करते हैं क्योंकि कर्ण को शिक्षा देनी है, पिता के दायित्व को पूरा करना है :

''जन्म पाया है पृथा से, दूध पीया है तुम्हारा,
कर्ण पर अधिकार उतना जितना कि इस पर हमारा;
गुरु बनूँ वसुषेन का मैं, अब यही बस चाहता हूँ,

क्यों न चाहूँगा भला मैं, जन्म मुझसे है, पिता हूँ।
''सारी विद्याएं सिखा कर लौट जाऊँगा, सुनो तुम,
मैं पृथा का पुत्र लूँगा, ऐसा कुछ भी मत गुनो तुम!
जो पिता का धर्म है, जो कर्म है, करना ही होगा,
रिक्त जो कुछ रह गया है, अब उसे भरना ही होगा।
''पुण्य का क्षण आ गया है, हाथ कैसे रोक पाऊँ,
पुत्र को सब दान देकर भूमि अपनी लौट जाऊँ!
इस समय से, इस क्रिया से अंग का उत्थान होगा,
कर्ण मेरा एक दिन इस अंग का भगवान होगा ।

—पृष्ठ २३

और सूर्य ऐसा करते भी हैं। ऐसा नहीं कि शिक्षा दान के बाद वह गायब हो जाते। कर्ण जब-जब भी मानसिक परेशानियों में होता है, सूर्य सामने होकर उसकी मानसिक परेशानियों को दूर कर पिता के धर्म को पूरा करते दिखते हैं :

''मित्र, तुमसे झूठ बोलूँ क्या, सुनो सब,
रात में आए पिता थे, श्याम तन-सा वर्ण,
और बोले, 'विप्र बन कर इन्द्र छली वह
आ रहा है, सजग रहना, पुत्र मेरे कर्ण !
'ये तुम्हारे कवच-कुंडल प्राणरक्षक
जो विजय के ध्वज-पताका, अस्त्र के बिन अस्त्र;
आँधियों के बीच बालक सहमे शिशु पर
ये कवच-कुंडल तो माँ के वक्ष, आँचल, वस्त्र।
'अब इन्हें ही छल-कपट से इन्द्र चाहे
दान में ले लूँ, तुम्हारी जीत पर हो जीत;
जो सफल वह हो गया इस कर्म में तो,
पांडवों की जीत समझो; भय से हूँ भयभीत ?'

—पृष्ठ १८८

(३) माता-पिता के प्रति संतान का व्यवहार

कर्ण महाकाव्य में सिर्फ संतान के प्रति माता-पिता के वात्सल्य का ही रूपांकण नहीं है, बल्कि माता-पिता के प्रति संतान के शील-सौन्दर्य का भी रूपांकण हुआ है । इसकी भव्यता प्राणदान पर्व में देखी जा सकती है। माँ की बातें और व्यथा सुनकर :

विचलित हुआ कर्ण, तन सिहरा; कंपित हो लघु शैल,
वर्ण श्याम पड़ गया अचानक, ज्यों विधु पर तम-मैल;
बोला ''माँ तो क्षीर नदी है, नर को है वरदान,
यह जानूँगा मैं तब ही, जब बोलेंगे भगवान ?
''माँ ही सागर, धरा, अग्नि है और पवन-आकाश,
माँ के बिना कहाँ है सृष्टि, गंध, शब्द और प्यास !
पुत्र नहीं वह, इस रहस्य का जिसको ही न ज्ञान,
माँ के ऋण से उऋण हुआ कब नर दे कर सर-दान ?
''माँ ही मोक्ष है इस धरती पर; माँ, तो क्या भगवान,
एक जननि के पुण्य बराबर कोटि-कोटि संतान !

—पृष्ठ २००

(४) पति-पत्नी का संबंध

कर्ण काव्य में चित्रित कौटुम्बिक जीवन में पति-पत्नी का संबंध भी कम उल्लेखनीय नहीं। यहाँ पति-पत्नी के संबंध की दृढ़ता—विचारों की समानता या एक दूसरे के विचारों को समझने-स्वीकारने की समझदारी पर स्थित है। अधिरथ की इच्छा है कि सूर्य से शिक्षा प्राप्त करने के बाद कर्ण राजकाज सँभाले, यही उचित होगा लेकिन राधा का विचार है कि वह बाकी शिक्षा प्राप्त कर ले, तभी राजकाज में उसे लगाना ठीक होगा क्योंकि ज्ञान सिंहासन से अधिक महत्वपूर्ण है, जिसके बिना शासन को सँभालना मुश्किल। अधिरथ राधा की बातों को स्वीकारते हैं और उसी की इच्छा के अनुसार कर्ण को लेकर गुरु परशुराम के पास पहुँच जाते हैं।

पूरे महाकाव्य में कर्ण और वृषाली के बीच कहीं मतभेद नहीं मिलता जिससे परिवार का परिवेश कटु हो उठे। वृषाली और कर्ण के बीच हास-परिहास का चित्र भी परिवार के पर्यावरण को एकदम जीवंत कर देता है। यहाँ तक कि कुंती के साथ सूर्य का संवाद और उसके सुख-दुखों में निरंतर साथ रहना—इसी प्रकृष्ट पारिवारिक पर्यावरण, पति-पत्नी के मृदुल संवाद के संसार को दर्शाता है :

''दुख नहीं करना पृथा अपने किए पर,
कुछ नहीं इस्थिर यहाँ, सब भाव गत्वर;
कर्ण दोनों के प्रणय का पुण्य फल है,
पंक के ऊपर खिला उज्जवल कमल है ।
''जो कवच-कुंडल दिया, पहचान हैं ये,
पाश-बंधनबद्ध मन के गान हैं ये;

तेज सम्मुख तुमसे है आकार पाकर,
है प्रकृति सचमुच पुरुष से आज ऊपर ।
''जो तुम्हारी सृष्टि है, स्रष्टा बनेगा,
तामरस होगा, ये इन्दीवर खिलेगा ।
यह पिता-माता के व्रत का ही व्रती हो,
देवता के धर्मरथ का ही रथी हो ।''

—पृष्ठ १७

(५) स्त्री-पुरुष का संबंध

संतान, माता-पिता तथा पति-पत्नी के संबंधों के अतिरिक्त प्रस्तुत काव्य में इस ओर भी संकेत है कि भारतीय समाज में किसी स्त्री के प्रति किसी पुरुष की कैसी दृष्टि रही है या होती है। इसे हम इस काव्य में आये उस प्रसंग से समझ सकते हैं जब कर्ण इस आरोप का खंडन करता है कि उसने कभी द्रोपदी को रूपाजीवा कहा हो। वह कहता है कि जिस चंपा की भूमि पर रूपाजीवा के निवास स्थान की मिट्टी से देवी का सम्मान किया जाता है, उसे अपमानित करने के लिए किस तरह अश्लील शब्दों का कोई प्रयोग कर सकता है :

''कैसे-कैसे लांक्षण मुझ पर सभी लगाते आए,
जिससे कि यह कर्ण धरा पर पतित सदा कहलाए।
मैंने कहा कहाँ कृष्णा को, वह है रूपाजीवा,
जो कहता तो इसी तरह क्या सीधी होती ग्रीवा!
''वैसे भी यह ज्ञात नहीं है कुंजरपुरवासी को,
अंगदेश में छूट नहीं है शासित या शासी को;
रूपाजीवा को छोटी आँखों से कोई हेरे,
तब ऐसे में कृष्णा के हित बोल उठेंगे मेरे ?
''अंगदेश में गणिका भी पूजित है देवी-सी ही,
वारस्त्री के बिना अधूरी कथा ऋंगऋषि की ही ।
लेकिन क्या इससे भी लेना, इससे अलग कहूँ मैं,
कृष्णा का दुख मेरे जैस जिसमें सतत बहूँ मैं ।

—पृष्ठ १३७

(६) बुजुर्ग-व्यस्क-संबंध

महाभारत से प्राप्त कथाओं के आधार पर ही महाकवि अमरेन्द्र ने परिवार

की उस संस्कृति को यहाँ अक्षुण्ण रखा है जो बुजुर्गों के प्रति सम्मान भाव रखने की शिक्षा देती है। शांतिवार्त्ता के क्रम में आये माननीय जब कर्ण को कठोर शब्द कहते हैं, तो उसी भाषा में कर्ण उत्तर नहीं देता; उसका आक्रोश सिर्फ इतना-सा दिखता है :

''कहा, 'पितामह, खांडव वन की आग अभी भी,
जलती है जो प्राणों में क्या बुझे कभी भी ?
और जहाँ तक केशव की है बात, ज्ञात है,
घोर तमस में पीड़ित जग में उठा प्रात है ।
'पुण्डरीक, माधव, दामोदर, पुरुषोत्तम जो,
जग कहता गोविन्द और मधुसूदन भी तो;
इससे भी कुछ अधिक समझता हूँ केशव को,
रखना बहुत कठिन है सब छवि के वैभव को ।
''लेकिन मेरी खातिर जो कुछ कहा आपने,
मेरे भीतर एक शपथ है लगी व्यापने ।
सुनिए तात, पितामह मेरी यही शपथ है,
जहाँ आप हैं, दूर-दूर ही मेरा पथ है ।

—पृष्ठ १७६

इतना कहते हुए वह सभा से बाहर निकल जाता है कि आप जब तक समर भूमि में रहेंगे, मैं अपना धनुष वाण नहीं उठाऊँगा :

''क्या इतनी-सी बात भीष्म भी नहीं समझते,
कृपाचार्य या विदुर महापंडित के रहते !
मन में तो आया यह कह दें बिना छुपाए,
बड़े हितैषी, जो पांडव के सम्मुख आए।
''जो पांडव पर दया द्रोण को बढ़ कौरव से,
दे देते क्यों नहीं, लिया जो राज्य द्रुपद से ?
लेकिन चुप रह गया बड़ों का मान बचाए,
तब भी मैं चुप रहा, वहाँ जब संजय आए।
''आए, तो बस यही कहा उस भरी सभा में,
धौंस भरी वाणी में सब कुछ पार्थ-प्रभा में ।
कहा, 'कर्ण से कहने ही भेजा है मुझको,
(कुछ ऐसे कि पड़े सुनाई सब कुछ सबको)
'मन्द बुद्धि के सूतपुत्र का काल निकट है,

पांडव का बल रोके रखना बहुत विकट है ।'
''सुनते ही यह वचन शिराएं फूल गई थीं,
नीति-प्रीति की मालाएं खुल झूल गई थीं ।
''लेकिन स्वयं को रोका, जी को नहीं हिलाया,
हिल जाती धरती ही सारी । धर्म निभाया;

—पृष्ठ १७२-७३

भले ही किसी और की इच्छा हो लेकिन कर्ण यही कहता है कि उम्र और योग्यता को देखते हुए गुरु द्रोण ही पितामह के बाद सैन्य संचालन करेंगे।

वह चाहे कृष्ण कर्ण से वर्ष भर के ही बड़े क्यों न हो, कर्ण कहीं पर भी अपनी भाषा या व्यवहार से उनकी प्रतिष्ठित प्रतिष्ठा को चोट नहीं पहुँचाता। भीष्म जब कृष्ण के देवत्व की बात करके कर्ण को भयभीत करना चाहते हैं और कर्ण जो कुछ कहता है, उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

(७) वनवासियों के प्रति संबंध

कर्ण महाकाव्य में परिवार का अर्थ बहुत व्यापक है, वह आज के एकल परिवार की परिभाषा से बाहर और विस्तृत है। सम्पूर्ण वसुधा ही कुटुम्ब है, परिवार है—कर्ण काव्य इसी भावना से प्रेरित है—इसी से तो यह महाकाव्य है। संक्रांति पर्व में मेघवन को विजन प्रांत कहने पर कर्ण कहता है :

''हे प्रिये ! किसने कहा यह वन विजन-जनहीन,
यह यहाँ के भंगलों के मोद से उड्डीन ।
''वृक्ष के ही बीच जिनके खिलखिलाते प्राण,
बाँसुरी ही कर्ण जिनके, सुर ही जिनके घ्राण;
हाथ है शीतल हवा, तो छवि वनों की, नैन,
जब यहाँ सोता दिवस है, जागती है रैन ।
''मेघवन के जो निवासी, देवता के अंश,
दूर इनसे पुर-नगर के छल-कपट के दंश;
जब कभी इनसे मिलोगी खिल उठेगा गात,
भंगलों के नाम पर यह अंग भी विख्यात ।''
सुन, वृषाली के नयन फैले, न फूटे बोल
पर तुरत ही पूछ बैठी, चेतना को झोल
''क्या कभी पुरवासियों से ये करेंगे नेह ?
पेड़, पत्ते, डालियाँ जिनके लिए गृह-गेह !''

रुक गया वसुषेन कुछ सोचा, कहा हो शांत,
"पुर नगर ही लोक है क्या ? और वन लोकांत ?
हम नगर के वासियों की बस यही है भूल,
वननिवासी कुछ अगर, तो माटी, पत्थर, धूल !
"भूलते हैं, ये हमारे आदि की पहचान,
अंग के भंगल, विभासुत; देवता का ध्यान;

—पृष्ठ ८४-८५

(८) पशु-पक्षियों के प्रति प्रेम

वनवासी परिवार के अंग हैं, अतिथि की तरह पूजनीय है, इसी से वन परिवार की सीमा से बाहर नहीं, तो इसके पशु-पक्षी ही परिवार से बाहर कैसे हो सकते हैं। प्रस्तुत प्रबंध में इस भाव को हारिल पक्षी के माध्यम से व्यक्त किता गया है :

"नाथ, वह है कौन पंछी ? मुग्ध करता शाल,
पत्तियों के बीच गति यूं, कामिनी की चाल !
"आज तक देखा नहीं था, सच कहूँ मैं, नाथ,
ज्यों तमस में छुप रहा हो स्वर्णपंखी प्रात ।
माँ के आँचल से हुलकता, शिशु कोई चुपचाप,
हर रहा है इस विजन का शोक, सब संताप ।"
कर्ण ने देखा वृषाली का विमल नव हर्ष,
जिस धनुष पर हाथ थे, उनका हुआ अपकर्ष ।
दृष्टि द्वय में प्रश्न का भी, प्रेम का भी दान,
जा टिका पल्लव-विवर पर एक क्षण में ध्यान—
"यह तो हारिल है प्रिये, जो दिख गया तो धन्य,
इससे सुन्दर या लजीला दूसरा क्या अन्य ?
प्रेमी वन का, जंगलों का मानता है पाश,
चार रंगों को समेटे, दृष्टि में आकाश ।
"यह नहीं नीचे उतरता, अन्न की न चाह,
यह फलाहारी है पंछी, अलग इसकी राह ।
जो कहो तो पकड़ लूँ मैं, ले चलूँ निज संग,
स्वर बिखेरेगा सुरीला और मोहक रंग ।

—पृष्ठ ८०

कहीं भी इस काव्य में कोई नायक अपना क्षत्रियत्व दिखाने के लिए सिंह-बाध का शिकार करते नजर नहीं आते, बल्कि अस्त्र शिक्षा के क्रम में गुरु सूर्य का कथन है कि उधर तीर मत चलाना, उधर से अभी-अभी सिंह का शावक गुजरते हुए देखा गया है :

''क्या नहीं आश्चर्य है यह, सोचता हूँ,
बोलते थे मेरे मन की, मैं यथा हूँ;
'उस दिशा में अस्त्र फेको, वनरहित है,
वह उधर है वृक्ष, जो कलरव सहित है ।

(६) शील का सौन्दर्य

परिवार में शील से मेरा संकेत विशेष कर शृंगार वर्णन में शालीनता से है। प्रस्तुत महाकाव्य में शृंगार तो कर्ण और वृषाली के संयोग-वियोग से ही है। यह देखकर कोई आश्चर्यचकित हुये बिना नहीं रह सकता कि पूर्णतः एकांतिक क्षणों में, जब विवाह से पूर्व के आकर्षण की स्थितियो को दोनों कह रहे होते हैं, वहाँ शृंगार का एक भी कामुक दृश्य नहीं लेकिन प्रेमभाव पूर्णता में प्रकट है। वृषाली प्रेम की उस स्थिति को व्यक्त करती कहती है :

''सच कहूँ, तब से ही मैंने चुन लिया था नाथ को,
माँ-पिता भी गिन गये मेरे हृदय की बात को;
प्रीति को अपनी छुपाना तब कठिन था हो गया,
था कहाँ कुछ ज्ञात, मन कब हँस पड़ा, कब रो गया।
''काल की सुधि चेतना से दूर थी, ज्यों देह से,
इस तरह से बँध गई थी नाथ के मैं नेह से ।
बस प्रशंसा ही प्रशंसा नाथ की, सुधिहीन हो,
मेरी मति पर जैसे कोई शक्ति ही आसीन हो ।
''सोचती हूँ आज भी जब, नाथ, गड़ती लाज से,
रात नीलम-सी लगे और दिन लगे पुखराज से ।
मोह का बादल घुमड़ता, फिर छटा शृंगार की,
वह कथा कहना है मुश्किल हर्ष की अभिसार की।

—पृष्ठ ८०

और लाज से गड़ जाती है।

और इसी शील को हम कर्ण में भी पाते हैं; अपने पूर्व राग को व्यक्त करते कर्ण की उक्ति देखिए :

''तुम मिली मुझको, तुम्हारी कामना थी, धन्य हूँ,
जेठ का आकाश था, पर आज तो पर्जन्य हूँ;
ज्यों अकिंचन को मिला हो राजसुख ही अंग का,
कुछ नहीं है नाम इसका प्रीत के उस रंग का ।
''भार फूलों का लिए मैं तैरता हूँ पौन पर,
भीगता आपादमस्तक सुरभि से तीनों पहर;
अब तुम्हारे साथ से प्राणों में कुछ बजता लगे,
शून्य में भी हर घड़ी सब कुछ नया सजता लगे ।
''नैन पीते, जागते हैं कान, तो नाचे अधर,
झुक गया है भूमि पर मंदार का ऊँचा शिखर;
चेतना जैसे ही थकती, सुधि तुम्हारी जाग जाती,
फिर वही धृति, दैन्य, चिन्ता, मोह, बीड़ा, गर्व, सुप्ति।
''भूल मैं सकता नहीं रोमांच या वैवर्ण्य को,
आज कह लेने दो मुझको अपनी जड़ता-त्रास को;
मति रही थी साथ, तो उन्माद मुझसे था अलग,
मृत्यु की व्याधि घिरी न, इसलिए जीवन सुभग ।
''यह वही तो है जगह जब तुम पहन कर चाँदनी,
मिल गई थी बस अचानक लाज से सिकुड़ी-सनी;
हाथ के वे धूप-दीपक थरथराए थे जरा,
स्वर्ग से उतरी हुई सम्मुख मेरे थी अप्सरा ।
''आज भी भूला नहीं, न भूलना ही चाहता,
शून्य से लटकी रजत की डोलती कोमल लता;
सृष्टि का सौन्दर्य सारा था खड़ा आकार ले,
नत नयन पर घिर गये अनुराग का मधुभार ले ।
''जम गई थी चाँदनी या स्वेद-कण उभरे हुये,
इस तरह देखा न था मैं रूप को सँवरे हुये;
क्या तुम्हें भी याद है वे माधवी के फुल्ल दिन,
हाथ जोड़े देखता था दूर से ही दिव मलिन ।''

—पृष्ठ ७६-७७

प्रस्तुत प्रबंध में कर्ण की दो रानियों का उल्लेख है—पुनर्नवी और वृषाली का और दोनों के प्रति समान आकर्षण, समान सद्भाव महाकाव्य में चित्रित है। यह नहीं कि कर्ण वृषाली के साथ ही वन विहार में होता है, पुनर्नवी के साथ भी होता

है। हस्तिनापुर की घटनाएं पत्र के माध्यम से कर्ण किसी को देता है, तो पुनर्नवी को ही। यहाँ तक कि विहार के समय भी वृषाली दीदी (पुनर्नवी) को नहीं भूलता।

''क्या बड़ी दी सोचती होंगी, न सोचा हाय,
निज सुखों के सामने मन किस तरह निरुपाय।
छोड़ दो हारिल यहीं, हम क्यों उजाड़े गेह,
फूल, पत्तों और फल से पंछियों का नेह ।

—पृष्ठ १४१

(१०) लोकाचार और लोकास्था

हिन्दी में विपुल काव्य के सर्जक अमरेन्द्र पहले लोक के कवि हैं, अगर ऐसा कह दिया जाय, तो बहुत गलत भी नहीं होगा। इन्होंने अपनी मातृभाषा अंगिका में जितने साहित्य का सृजन किया है, वही इस बात को सिद्ध करने के लिए काफी है।

सिर्फ लोकभाषा को लेकर ही नहीं, इन्होंने अपने विषय को व्यक्त करने के लिए जिन छंदों का सहारा लिया है, कवित्त, दोहा, पद, ये भी इसके उदाहरण हैं। अंगिका में रचा गया षट् ऋतु पर गीत-संग्रह ऋतुरंग संपूर्ण रूप से लोकछंद पर ही रचित है।

यहाँ तक षट्ऋतु वर्णन भी लोक तत्व की सीमा से बाहर नहीं है और अंगिका में रचा गया इनका प्रबंध काव्य 'गेना' इसी षटऋतु वर्णन की भित्ति पर खड़ा है।

निःसंदेह 'कर्ण' महाकाव्य हिन्दी में रचे इनके काव्यों में सबसे अधिक प्रौढ़तम है, तो स्वाभाविक रूष से इस प्रबंध में नवीन एवं वैज्ञानिक विचारों का संयोग भी प्रचूर मात्रा में मिलेंगे लेकिन इसके बावजूद इस प्रबंध में लोकतत्वो की उपेक्षा नहीं हुई है। ये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ भी अपनी ताकत और सौन्दर्य के साथ उपस्थित हैं, जिस पर विचारना बहुत आवश्यक है।

कर्ण काव्य में आये लोकतत्व धार्मिक भी है, पारंपरिक भी हैं, सामाजिक भी और साहित्यिक भी हैं।

जहाँ तक धार्मिक लोकतत्व का प्रश्न है, वे तो हमें काव्य के आरंभ से ही मिलने लगते है। कुंती के द्वारा जल, वायु, आकाश के देवों का स्मरण, धार्मिक लोकतत्व के ही उदाहरण हैं; फिर हिन्दुओं के धार्मिक विश्वास के अनुसार, प्रलय के बाद श्रीकृष्ण वरगद के पत्ते पर बाल रूप में अपने नन्हे हाथ से पैर के अँगुठे को मुँह में लिए सिंधु सागर पर खेलते रहते हैं। प्रथम सर्ग में कुंती को जलराशि के ऊपर

उसी रूप को दिखना धार्मिक लोकतत्व का एक सुंदर उदाहरण है :

ले रहा शिशुरूप, फिर किलकारियाँ हैं,
गीत मंगल गा रही-सौ नारियाँ हैं ।
अंग ज्यों कंचन तपा-सा बहुत दपदप,
कर रहा है लघु करों से वारि छपछप ।
भोर आँखों में जगा हो, रात सर पर,
गौर से देखा पृथा ने फिर ठहर कर;
लघु चरण ऊपर उठाता, फेंकता है,
और करवट लेके नीचे देखता है ।
गुरु, विभाकर, सूर्य सब आगे हुए हैं,
कर-चरण के भाग्य सब जागे हुए हैं;
बह रहा है स्वर्णतरी पर; हो हिंडोला,
देख, मन का हर्ष कुन्ती ने टटोला ।
देखती है क्षीर-सिन्धु दधि-उदधि है,
दधिसुता, दधिसुत वहाँ, कुछ और यदि है ।
वृष्टि केशर की, खिला अम्बर कमल-सा,
हो गया हो व्योम कंचन के महल-सा ।

—पृष्ठ १२

यह अलग बात है कि यहाँ इसका महत्व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी कम नहीं है। महत्व तो इसलिए भी कम नहीं है कि महाकाव्य के आरंभ में ईशवंदना, मंगलाचरण आवश्यक माना गया है और इस लोकतत्व के प्रवेश से उस कमी की भी पूर्त्ति हो गई है। यहाँ यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस प्रबंध में ईश्वर के रूप में कृष्ण ही कथा के साथ प्रमुखता के साथ जुड़े हुये हैं, इसी से प्रबंधकार ने बालमुकुन्द वाली लोकधारणा को प्रबंध के आरंभ में रखा है। आचार्य कुंतक की प्रबंध वक्रोक्ति को ध्यान में रखकर इस धार्मिक लोकतत्व के महत्व को समझा जा सकता है।

पूरे प्रबंध में कर्ण के जीवन से जुड़ी लोककथाएं पौराणिक लोकतत्व के ही उदाहरण हैं, वह चाहे धरती के द्वारा कर्ण को शापित करना हो, या गौ-हत्या के वारण ऋषि द्वारा शापित होना। प्रज्ञा पर्व में समुद्रमंथन या ऋषि भृगु-विष्णु की कथाएं भी इसी काटि के लोक तत्व हैं :

"कौलगंग को छोड़ यहाँ पर क्यों आए हैं गुरुवर,
सचमुच में मंदार धरा पर फैला स्वर्ग मनोहर ।

अब भी मंथन के उठते हैं लय में नाद अतल से,
गिरि, वन, नदियाँ, और पवन, नभ बनते ज्यों चंचल-से।
''अब भी इस्थिर दशो दिशाएं लगतीं नाद वही सुन,
फेंक रहा हो ज्यों पयोधि ऊपर रत्नों को चुन-चुन।
लहराता हो शेषनाग ही अब भी नीचे-ऊपर,
मंथन क्या, ज्यों युद्ध सजा था भारी भूतल भू पर।

—पृष्ठ ५०

यहाँ तक कि प्रबंधकार ने धार्मिक लोकविश्वास के अनुसार ही धार्मिक, पौराणिक पात्रों का रूप-चित्रण से परहेज नहीं किया है। अगर सूर्य का रूप कवि को उतारना होता है, तो वह इस तरह होता है :

''देवता हे रश्मियों के, रश्मियों के देहधारी,
कौन हैं, क्या काम है, मुझसे हुई क्या भूल भारी ?
केश स्वर्णिम, भौंह स्वर्णिम, रोम स्वर्णिम,
रश्मियों-सी मूँछ-दाढ़ी, देह; जैसे, व्योम स्वर्णिम।

—पृष्ठ १६

कृष्ण के क्रोधित होने पर उनका विराट रूप भी लोकविश्वास के ही अनुकूल है :

''सुनते जागा क्रोध अनल-भव-तब केशव का,
लगा बदलने रूप काल-सा तब माधव का;
आँखों में जल उठी आग, बाहों में सागर,
गर्म उसाँसों की लपटें पूर्वा को पाकर ।
''ब्रह्मा झलका दिप्त भाल पर, रुद्र हृदय में,
कुरु का संशय हटा रहे, पर कुछ संशय में;
वाणी से ही बता गये सबको केशव यह,
'कैसे बड़वानल उगलेगा नील कमलदह ।
'लोकपाल, आदित्य, मरुदगण, असुर, यक्ष तक,
सब मुझसे ही संचालित हैं, इसमें क्या शक ।
मैं पांडव में, पांडव मुझमें, शक्ति-शिवालय,
पड़े अतल में क्या देखोगे तुंग हिमालय ?'

—पृष्ठ १७६-१८०

और घटोत्कच पर्व में प्रबंधकार घटोत्कच का जब रूप चित्रण करता है, तो लोकविश्वास की अनदेखी नहीं करता :

रुका, देखा क्षितिज के छोर पर वसुषेन ने कुछ,

तमस के बादलों के बीच उड़ता एक पर्वत;
दिखा वटवृक्ष-सा, जो है गगन को नापता-सा
जिधर से वह गुजरता था वहीं का देश अवनत ।
उड़ाए जा रहा है भूमि पर के दुर्ग सारे,
दिशाएं काँपती थर-थर, गगन पट-सा सिहरता;
प्रलय के काल में ज्यों काल सारी शक्ति लेकर
पवन की छाती पर चढ़ कर दिशाओं में विचरता ।

—पृष्ठ २२६

सामाजिक लोकतत्व के भीतर वे सभी लोकतत्व समाहित है, जो लोक में मंगल या अमंगल के सूचक हैं। प्रबंधकार ने प्रसंग के अनुकूल ऐसे लोकविश्वासों को जिस तरह गूंथा है, उससे वहाँ अदभुत और स्वाभाविक सौन्दर्य का सृजन हो गया है। देखे :

''लौटा राजमहल था लेकिन मन इस्थिर क्या ?
स्वाप लगे आँखों के आगे आने, क्या-क्या !
हिरण कौरवों के बायें से भागे जाते,
पर पांडव की दायीं दिश से दौड़ लगाते ।
''मित्र सुयोधन के अश्वों की गीली आँखें,
पांडव रथ से जुते हयों की निकली पाँखें ।

—पृष्ठ १८४-८५

(११) गुरु-शिष्य संबंध

'बीज पर्व में पिता सूर्य कहते हैं:

जो मुझे था, कर दिया आरा समर्पित
और जो आगे मिलेगा साधना से दे
माँ, पिता, गुरु की मिलित आराधना से

—पृष्ठ ३१

कर्ण महाकाव्य में गुरु-शिष्य संबंध को बहुत ही आत्मीयता के साथ चित्रित किया गया है, क्योंकि परिवार में बच्चे के समुचित विकास के लिए समुचित शिक्षा की व्यवस्था जरूरी है। इसके महत्व को समझते हुए बीज पर्व में इसकी झलक भले ही मिलती है लेकिन प्रज्ञा पर्व पूर्ण रूप से इसी विषय से जुड़ा हुआ है कि बच्चों की शिक्षा के लिए कैसा वातावरण होता चाहिए; गुरु की प्रतिभा और व्यक्तित्व कैसा होना चाहिए; शिष्य के रूप में बच्चे का चरित्र कैसा हो—बहुत विस्तार से इन बातो

का यहाँ उल्लेख हुआ है।

प्रज्ञा पर्व में प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का पूरा सस्कार जागृत है!

''अति उदार गुरु का मन शीतल, रस से भरा-भरा है,
इसीलिए तो मंद्राचल की भूमि मधुर, मधुरा है ।
ऐसे थे गुरु द्रोण कहाँ कब, भले ज्ञानपूरित थे,
शशि को श्यामविन्दु घेरे था, उज्जवल थे, अति सित थे।
''उनका तो बस पुत्रमोह ही ज्यादा हुआ उजागर,
कितना ठगा हुआ लगता था उनके पास पहुँच कर;
और ज्ञान का कहाँ भला परिवेश वहाँ था सचमुच,
जो प्रकाश का पुंज लगा था, मात्र धुआँ था सचमुच ।
''यहाँ प्रकृति की खुली-खुली ही बस आभा दिखती है,
अभिरामा की दृष्टि जिसे पीने बरबस झुकती है;
ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की यह छाया मधुरिम फैली,
गुरु के जीवन-से ही जैसे मिलती-जुलती शैली ।

—पृष्ठ ४७-४८

ऊपर जिन विषयों की ओर संक्षेप में विचार किया गया है, उसे देखते हुए, मैं पूनः दुहराना चाहूँगी कि यहाँ मीमांसा दर्शन में गृहस्थ जीवन के लिए जिन यज्ञों का पालन अनिवार्य माना गया है, यानी ब्रह्मयज्ञ, देव यज्ञ, पितृयज्ञ, भूत यज्ञ; उन्हें यहाँ महाकवि ने शब्द चित्रों में दिखाया है ।

आधुनिकता के आयाम

भले ही इस महाकाव्य के पात्र और कथा पुराकथा से संबंध रखते हों, लेकिन आधुनिकता की लहरें इसके पोर-पोर में समाई हुई हैं, जिसकी ओर पूर्व के अध्यायों में संकेत होते ही रहे हैं । वह चाहे आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में आये पात्रों के दिवास्वप्न हों, या वृहत्तर राज्य की जगह आंचलिकता को महत्व देने की बात को लेकर। लेकिन इन दोनों बातों से अलग इसकी आधुनिकता इसमें आये पर्यावरण और वनवासियों की समस्याओं को लेकर है । चाहे प्राकृतिक आपदाओं के कारण हो या मनुष्य निर्मित आपदाएं, इनके दुष्परिणाम आखिर वनवासियों-जनजातियों को ही विशेष रूप से भोगना पड़ता है, जिनका जीवन गिरि वनों के सहारे ही चलता है। आज जंगलों पर्वतों के उजड़ते जाने के कारण आदिवासियों का जीवन-संकटग्रस्त हो गया है, इस बात को डॉ. अमरेन्द्र ने गिरिडीह में प्राकृतिक आपदा और खांडव वन के दहन के द्वारा उजागर किया है ।

आदिवासी जनसमुदाय के बहाने ही दलित-विमर्श भी इस महाकाव्य में आधुनिकता का अंग है । महाकाव्य के अंतिम सर्ग में कर्ण की जिन बातों को दूत सुनाता है, वहाँ संक्षिप्त ही सही, लेकिन दलितों के पक्ष में मजबूती के साथ कही गई बातें हैं।

कर्ण जिन बातों को यहाँ रखता है, कुछ उन्हीं बातों को सूर्य भी कर्ण को शिक्षादान के क्रम में कहते हैं। इस तरह इस सवाल को यहाँ प्रमुखता मिल गई है या हम यह कह सकते हैं कि कवि ने आज के साहित्य के इस विमर्श को नेपथ्य में नहीं रखा है ।

वैसे न स्त्री-विमर्श यहाँ नेपथ्य में जाने पाया है, न बुजुर्ग-विमर्श ही । कर्ण

किसी भी परिस्थिति में भीष्म पितामह, द्रोण या कृष्ण के प्रति असम्मान के शब्द नहीं निकालता। इसकी जगह वह दुर्योधन से यही कहता है कि उनके पास अनुभवों का संसार है, जिसका लाभ हम उठा सकते थे ।

और इसी तरह इस काव्य में सीधे-सीधे तो स्त्री-विमर्श की झलक नहीं मिलती, लेकिन प्रकारान्तर से स्त्री-विमर्श भी शांत धारा की तरह प्रवाहित है। महाकाव्य की राधा (अधिरथ की पत्नी) अपने विचारों को दृढ़ता के साथ अपने पति अधिरथ के सम्मुख रखती है, और वह भी तर्क के साथ। यह ठीक है कि कुंती में मातृत्व पक्ष अधिक प्रबल है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में उसके ओज का दर्शन हमें मिलता ही है। द्रोपदी का कर्ण के प्रति क्रोध का कारण भी उसे सहृदय के क्रोध से बचाता है ।

कर्ण की रानियों पुनर्नवी और वृषाली के चरित्र में भी हम हृदय के साथ बुद्धि का कुशल योग पाते हैं । कर्ण काव्य के स्त्री पात्र कहीं से भी हृदय या बुद्धि से दीन-दलित नहीं हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आधुनिकता को दिखाने के लोभ में कवि ने नारी पात्रों में उत्शृंखलता को स्थान दिया हो । कर्ण महाकाव्य में आधुनिकता भारतीय संस्कृति के साथ चलती आधुनिकता है ।

मनोविज्ञान और कर्ण महाकाव्य

कर्ण महाकाव्य की कथावस्तु महाभारत की प्रख्यात कथा पर आधारित होने के कारण यह निःसंदेह एक ऐतिहासिक महाकाव्य सीधे-सीधे लगता है, लेकिन ऐसा है नहीं।

यह महाकाव्य अगर कुछ है, तो साहित्यिक महाकाव्य पहले है, फिर नैतिक काव्य भी, और जिसका सौन्दर्य इसमें विन्यस्त मनोविज्ञान पर आधारित कम नहीं है। यही कारण है कि इसमें काम चेतना की प्रबलता का व्याख्यान आरंभ में ही देवता सूर्य के द्वारा हुआ है, जिसके सम्मुख सामान्य मनुष्य क्या, देवता तक निरुपाय हो जाते हैं :

''बहुत ही अनुनय किया था, लौट जाऊँ मैं वहाँ से,
मैं विवश रतिबद्ध, कैसे लौट जाता फिर वहाँ से;
रक्त की अठखेलियों से मैं हुआ वशीभूत था तब,
चित्त को अब जो डराता, मैं वही अवधूत था तब।
''तन गई थी रीढ़ तन की, एक बस आवेग हू-हू,
बुद्धि मेरी थी हवा पर, चेतना जलती थी धू-धू ।
शोर ऐसा हो गया था, सुन न पाया था रुदन को,
तोड़ आया था अभय बन शांति के पावन भवन को ।
''देह का यह आचरण सचमुच बहुत कुत्सित पतित है,
देवता के इस भयावह कर्म से दानव चकित है;
तब कहाँ था सूर्य मैं ही, जो तमस को लील लेता,
भाव मन में दौड़ता था सृष्टि का मैं ही विजेता ।

—पृष्ठ २२

यहा सुखवादी व्यक्तित्व के मनोविसान की झलक है, जो निरंकुश होता है, अहंकारी भी, अपने सुख की पूर्त्ति के लिए नैतिकता के किसी बंधन को स्वीकार नहीं करता।

लेकिन कर्ण महाकाव्य में मन का यह रूप अपवाद स्वरूप में ही है, नहीं तो यहाँ अधिकांश चरित्र ऐसे मनोविज्ञान से गठे चरित्र हैं, जो मनुष्योभित और देवोचित ही हैं। स्वयं आगे के सर्गों में या कहें प्रथम सर्ग ही सूर्य का व्यक्तित्व सामाजिक अज्ञात और पराहम मन के व्यक्तित्व के रूप में सामने आता है। पुत्र और प्रिया के प्रति यहाँ सूर्य के हृदय में वात्सल्य और प्रेम का जो रूप उपस्थित है, वह सामूहिक अज्ञात मन से संचालित व्यक्तित्व के कारण ही। यही अनुराग आगे के सर्गों में भी पाते हैं, जहाँ कर्ण और नायिका वृषाली के बीच ही नहीं, गुरु-शिष्य के रूप में परशुराग और कर्ण के बीच ही नहीं, कृष्ण और कर्ण के बीच भी पाते हैं।

यूँ तो हिन्दी का ही क्या, संस्कृत का भी कोई महाकाव्य ऐसा नहीं, जो मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य से रिक्त हो, ऐसा होगा, तो वह सहृदयों को आनंद पहुँचाने में असमर्थ ही होगा और कर्ण महाकाव्य में मन को बाँधने की जो अचूक शक्ति है, उसका एक सशक्त कारण तो यही है कि यहाँ मनोविज्ञान का पग-पग साथ रहा है।

मन का महत्व तो इसीसे समझा जा सकता है कि वह जहाँ होता है, वहीं उसकी ज्ञानेन्द्रियां भी साथ होती हैं, तब उसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है कि उसका शरीर कहाँ है और इसी तथ्य को सामने रखते हुए कर्ण अपने मन से कहता है कि जिस समय कृष्णा को सभा में लाया गया था, वह उस समय सभा में रह ही कहाँ गया था! वह तो उसे देखते ही उस स्वयंवर में पहुँच गया था, जहाँ उसे सूतपुत्र की संज्ञा से अपमानित होना पड़ा रहा था :

‘‘जहाँ तक बात है, कृष्णा को लाने की सभा में,
तुम्हें क्या ज्ञात, क्या जादू भरा है उस प्रभा में !
उसे देखा स्वयंवर में, नहीं कुछ बोल पाया,
हिले न तीर-तरकश, न धनुष ही डोल पाया ।
‘‘लगा क्षण भर यही उस काल में जड़ हो गया हूँ,
थका, हारा, अलस-सा सेज पर मैं सो गया हूँ ।
कहाँ तब बेध पाता लक्ष्य को निष्फल हुआ था,
किसी के रूपपिंजर में तड़पता-सा सुआ था ।
‘‘उसी कृष्णा की छवि को देखने पहुँचा सुयोधन,
नहीं यह बात अब तो है किसी से दूर-गोपन ।

उसे ही देखने में पाँव फिसले थे महल में,
कहाँ थी चेतना जो भेद करता काँच-जल में ।
''सभा में जब दुशासन ने उसे ही खींच लाया,
यहाँ भी रूप की छवि ने वही जादू चलाया,
सुयोधन किस तरह कहता भला यह, 'चीर हर लो',
इकहरे वस्त्र में लिपटी हुई का वसन धर लो ।
''पड़ी थी दृष्टि उसकी उस समय जब द्रोपदी पर,
बँधी ही रह गई हो नाव जैसे कि नदी पर ।
कहाँ कुछ बोल पाया था, सुयोधन ही कहाँ था,
लगा कोई खिलौना काँच का बैठा वहाँ था ।
''तुम्हें भी ज्ञात है, यह मन जहाँ होता प्रबल है,
वहाँ क्या इन्द्रियों का एक भी खिलता कमल है ?
सभी कुछ सामने होते मुदा होता नहीं कुछ,
जिधर जो चाहता मन है, वहीं पर तो सभी कुछ ।

—पृष्ठ ११८

यहाँ तक तक कि साड़ी का बढ़ते जाना मन का ही भ्रम था, जो मोहित सभा को वैसा लगा था। इसका विस्तृत वर्णन इसी आवर्त पर्व में देख सकते हैं, स्वयं अपनी स्थिति के बारे में कर्ण कहता है :

''जहाँ तब बात है मेरी, उसे कहना जरूरी,
बिना उसको कहे तो सब कहा समझो अधूरी ।
मुझे क्या हो रहा था, तब तुम्हें वह क्या बताएं,
कहाँ से किस तरह से उसे विगत को ले उठाएं ।
''पड़ी जब दृष्टि कृष्णा पर, पुराने घाव उभरे,
उभर आए, स्वयंवर में सभी वे भाव उभरे—
कहा कृष्णा ने क्या था, जब उठाया था धनुष को,
कभी मैं भूल ही पाता नहीं हूँ तनिक उसको ।
''दुशासन ने उसे जब खींच कर लाया यहाँ था,
तुम्हें मैं क्या बताऊँ, मैं स्वयंवर में वहाँ था !
हँसे अधरों में जब थे, द्रोण ही क्या, भीष्म तक भी,
नहीं केवल युधिष्ठिर और अर्जुन; भीम तक भी ।
''कहा था 'सूतवंशज' द्रोपदी ने कर्ण को ही,
समझ सकते हो कितना कठिन होगा काल द्रोही,

मुदा वह भी सहा था, कर्ण सहने के लिए है,
कहा कुछ न किसी से मुँह-अधर अपना सिए है ।
''अगर पूछा है तुमने, तो सुनाऊँगा सभी कुछ,
समय आयेगा वह भी एक दिन जब, पर अभी कुछ,
सुनो, कृष्णा सभा में जब वहाँ लाई गई थी,
नई बदली-सी सुन्दर और भी सुन्दर नई थी ।
''सभा की चेतना थी जड़, विगत में लीन था मैं,
किसी गहरे अतल सागर में बैठा मीन था मैं ।
कहीं पर द्रोण चिंतित थे द्रुपद के द्रोह से ही,
पितामह भी ग्रसित थे पांडवों के मोह से ही ।

—पृष्ठ ११६-१२०

मनोविज्ञान यह मानता है कि व्यक्ति न केवल अपने आत्म सम्मान के लिए, बल्कि अपने स्वजनों के सम्मान के लिए सतत सक्रिय रहता है। उपरोक्त प्रसंग से यह भी स्पष्ट होता है कि सूतपुत्र कहने से वह कितना आहत था, फिर रंगशाला में जब उसे सारथीपुत्र कह कर अपमानित किया जाता है, तब दुर्योधन का मित्रवत् व्यवहार उसे उसके प्रति मैत्री भाव से भर देता है, जिसके कारण ही कर्ण बहुत जगहों पर विरोध के बावजूद दुर्योधन का विरोध नहीं कर पाता, साथ देता है। इस तथ्य को मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में देखना-समझना जरूरी होगा। यहाँ तक कि रंगभूमि के एक कोने से कर्ण के सम्मान में उठे स्वर को भी वह भूल नहीं पाता।

कर्ण महाकाव्य में आत्मसंलाप का सर्ग भी मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है, जहाँ व्यक्ति किसी सामाजिक या नैतिक वर्जनाओं के कारण मन की बातें लोगों के समक्ष नहीं रख सकता, वहाँ आत्मसंलाप ही उसकी मानसिक शांति का माध्यम बनता है, जहाँ उसके सामने कोई अवरोध या वर्जना नहीं होती। 'आवर्त्त पर्व' में मन के अहं स्तर का यानी अचेतन-अर्द्धचेतन मन के स्तर हो देखते हैं, तो पूरे प्रबंध में मन का पराअहम स्तर ही छाया पाते हैं, जिसके कारण ही इसके पात्र नैतिक मूल्यों के समर्थक हैं और मूल्यों से बंधे हैं।

दिवास्वप्न मनोविज्ञान का एक मुख्य हिस्सा है और इस महाकाव्य का अंतिम सर्ग 'पंचता पर्व' इसी दिवास्वप्न के कारण कला की दृष्टि से भी अद्भुत है :

'चेतना पर छा रही कैसी तो छाया, माधवन,
और उसमें खो रही आभा की माया माधवन;
फिर विगत का स्वप्न वह साकार सम्मुख, माधवन,
श्वेत सारस था सरोवर में खड़ा झुक, माधवन ।

'आ गया था एक विषधर तैरता झट, वेग से
पाँव जबड़े में फँसा, तो पंख फट-फट, वेग से;
'पर कहाँ वह उड़ सका था, डूबता-सा दिख रहा,
ज्यों बड़ा-सा शंख जल पर तैरता-सा दिख रहा ।
'चाहता अहि था लपेटे और निगले किस तरह,
और सारस ताक में बाहर तो निकले, किस तरह,
व्याल था कि पाँव को जकड़े हुए था, शक्ति भर,
राहु जैसे चाँद को पकड़े हुए था, शक्ति भर ।
'रास्ता बचने का जैसे न बचा हो, अब कहीं,
मृत्यु ने ही व्यूह यह जैसे रचा हो, अब कहीं;
चाहता सारस विपद का अंत कोई, जल्द ही
और आखिर जग गई थी शक्ति सोई, जल्द ही ।
'चोंच से करने लगा था वार, सारस इस तरह,
सिद्ध आखिर में हुआ वह कर्म पारस इस तरह।

—पृष्ठ २५०

कर्ण महाकाव्य के प्रथम सर्ग में कुंती शिशु पर आने वाले संकटों को ख्याल कर अत्यधिक विचलित हो उठती है। मनोविज्ञान बताता है कि अत्यधिक चिंता मानसिक विचलन का कारण हो सकती है, इसी से अचेतन स्तर पर कुछ ऐसे भी मानसिक उपचार होते रहते हैं जो व्यक्तित्व विघटन के संतुलन को बनाए रखते हैं। जल में छोड़े गये शिशु कर्ण के लिए कुंती नदी के वेग को यादकर बेहद व्याकुल हो उठती है, तभी वह देखती है वह बालक कोई समान शिशु नहीं, अनेक शुभ नक्षत्रों के चिन्ह उसके अंगों पर हैं और जल पर वह थपकियां दे रहा है। मैंने एक विद्वान ने मुझसे कहा था यह प्रसंग कथा-रूढ़ी से जुड़ा हुआ है, आरंभ में देवताओं का स्मरण करना और यह बाल विष्णु का स्मरण है। मैं उनका विरोध नहीं कर सकती है लेकिन यह प्रसंग मनोविज्ञान से जुड़ा अधिक लगता है, जिस तरह सर्ग में कृष्ण के विराट रूप को भी मनोविज्ञान से ही जोड़कर महाकवि अमरेन्द्र ने देखा है, अन्य दर्शकों का ऐसा जो कुछ दिखाई देता है, वह कृष्ण के अत्यधिक क्रोध और क्रुद्ध रूप को देख कर ही, जो कि वर्णन से भी स्पष्ट है। विज्ञान के युग में यही बात ज्यादा विश्वसनीय भी लगती है।

कल्पना का सौन्दर्य

कल्पना कवि की नैसर्गिक प्रतिभा का प्रमाण है । जिस कवि की प्रतिभा जितनी विलक्षण होगी, उसके काव्य में कल्पना का सौन्दर्य उतनी ही विलक्षणता के साथ प्राप्त होगा, क्यों कि यह कल्पना ही है, जिसकी नींब पर अलंकार, बिम्ब से लेकर प्रबंध विधान तक स्थिर है । यहाँ कर्ण में कल्पना तत्व पर विचारना इसलिए भी आवश्यक है कि इससे इस प्रबंध के प्रबंधकार की प्रतिभा पर भी प्रकाश पड़ सके।

इसके पहले कि हम कल्पना की कोटि को जाने, काव्य में कल्पना की महत्ता को जान लें। यह बात तो बिलकुल सही है कि काव्य में जिस वस्तु को कवि चित्रित करना चाहता है, वह प्रभावी रूप से तभी चित्रित हो सकती है, जब उसके रूप-गठन में कल्पना का व्यवस्थित योग होता है ।

अगर यह कहा जाय कि कर्ण महाकाव्य से कल्पना को हटा लिया जाय, तो इसका पूरा ढाँचा चरमरा कर नीचे बैठ जायेगा, गलत नहीं होगा। सिर्फ वस्तु-गठन की ही बात लें, तो इसके प्रथम सर्ग से लेकर अंतिम सर्ग तक कवि की कल्यना की सजगता को देख सकते हैं । प्रहरी के साथ स्वर्ण पुरुष का स्वर्ण मंजूषा ले साथ-साथ बढ़ना, चंपा नगर की भव्यता, कुंती को सूर्य का ढाढ़स बंधाना, द्वितीय सर्ग में राधा के साथ सूर्य का संवाद, धरती पर कर्ण के आने के पीछे ऋषि कन्या का शाप, सूर्य के द्वारा कर्ण को ज्ञान दान, पांडव वनवास के बाद कर्ण का चंपा लौटना, परिवार के साथ संवाद, गिरिडीह की यात्रा, वहीं वन प्रदेश में जलप्रलय-नर्तन, नागकुल का खांडव जाना, आवर्त्त पर्व में पांडव के वनवास की कथा का पत्र द्वारा उल्लेख और स्वप्न स्मृति के द्वारा मृत्युपरांत कर्ण वृतांत का विधान महाकवि अमरेन्द्र

की प्रबंधगत कल्पना की विलक्षणता को ही प्रकट करता है ।

उपमा, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे अलंकारों में हम कवि की कल्पना तो सपष्ट है ही, लेकिन जड़ पदार्थों और प्रकृति पर मानवीय चेतना का आरोपण कवि अमरेन्द्र की कल्पना के सुंदरतम प्रतिमान हैं । ऐसा लगता है कि जड़ पदार्थों का जड़ बना रहना इन्हें स्वीकार नहीं, यही कारण है कि नदियाँ, जंगल, पर्वत, आकाश, सब चेतन प्राणी की तरह समझते, बोलते, क्रिया करते हैं :

(१) रात्रि की निस्तब्ध बेला, मौन प्रहरी,
सो चुकी है दिवस की चिड़िया सुनहरी;
शांत वन हैं, जड़ हवाएं सरसरातीं,
चुप हैं चानन और गंगा, हरहरातीं ।

—पृष्ठ २७

(२) "आज भी मुझको उड़ा ले जाती है यह मेघवन,
रंग फूलों के विहँसते आज भी तो छुम छनन ।
आज भी कचनार की मुस्कान की वंशी बजे,
माधवी, बेला-लताओं की वही माया सजे ।
"आज भी तो केतकी संगीत भरती रोम में,
चाँदनी की रास अब भी इस गहन तम तोम में;

—पृष्ठ ७५

(३) "लौटें वृषाली, अब निशा भी हो गई है मौन,
नींद को देता निमंत्रण मेघवन में कौन;
पत्तियों पर सो गई हैं पलक मूँदे ओस,
चुप है गंगा और चानन, चुप सहस्त्रों कोस ।"
हो रही पदचाप; साँसे मालती की
धड़कनें उड़ती पावन पर है नदी की ।

—पृष्ठ ९०

डॉ. अमरेन्द्र भाव या वस्तु के चित्र-विधान के जिस कल्पना का सहारा लेते हैं, वह अतिरंजना से ग्रसित नहीं है। अतिरंजना की कल्पना से इन्हें परहेज है । अगर कर्ण में सूर्य के सभी रूपों की झलक है, तो इसके पीछे एक धार्मिक कारण है कि सूर्यपुत्र है । विवेचन से बस इतना ही स्पष्ट होता है कि कर्ण सूर्यवंशी है, सूर्य के तेज से संपन्न । हाँ, रथ की तीव्र गति या अन्य बातों को दर्शाने के लिए अवश्य ही कहीं-कहीं कवि ने अतिरंजित कल्पना का सहयोग लिया है :

(१) "जानता हूँ इस समय रविसुत गहन में,

शोक है वृसषेन सुत का, वीर अतुलित;
पर व्यथा को; ज्यों सघन घन को प्रभंजन,
है उड़ाए जा रहा ही कर्ण का मन ।
''गात्र कैसा ? अग्नि जिसको छू न पाए !
हो रहे भूकंप; इस्थिर और पर्वत !
धूमध्वज टकरा रहे हैं; गगन निश्चल !
फट रही ज्वालामुखी, पर सिंधु शीतल !
''कर्ण का जब शंख गूँजेगा समर में,
कौरवों में सिंधु की लहरें उठेंगी,
मृत्यु नाचेगी करोड़ों चरण ले कर,
काँप जायेगी धरा, काँपेंगे भूधर ।

—पृष्ठ २१०

(२) रुका, देखा क्षितिज के छोर पर वसुषेन ने कुछ,
तमस के बादलों के बीच उड़ता एक पर्वत;
दिखा वटवृक्ष-सा, जो है गगन को नापता-सा
जिधर से वह गुजरता था वहीं का देश अवनत ।
उड़ाए जा रहा है भूमि पर के दुर्ग सारे,
दिशाएं काँपती थर-थर, गगन पट-सा सिहरता;
प्रलय के काल में ज्यों काल सारी शक्ति लेकर
पवन की छाती पर चढ़ कर दिशाओं में विचरता ।
लगा यूँ कर्ण को, वह आ रहा हो गति उड़ाए,
उसी की ओर ही मतहीन हो मतिभ्रष्ट होकर;
लगाएगा अभी ब्रह्मांड को वह क्रोध में आ
अपरिमित शक्ति लेकर सृष्टि भर की, एक ठोकर ।
हँसा वसुषेन यह सब देख, तत्क्षण फिर सँभल कर,
उठाया हाथ अपना, और फेंका व्योम पर कुछ;
बहुत काँपा क्षितिज, जल, व्योम, पावक और मारुत
लुढ़कता जा रहा है शैल-सा तम तोम पर कुछ ।

—पृष्ठ २२९-३०)

कर्ण काव्य में हमें जिस फैंटेसी कल्पना का दर्शन होता है, वह मनोविज्ञान से पोषित कल्पना ही है, जो हमें पंचता पर्व के रूपक में प्राप्त होता है, या तो आवर्त्त पर्व में आत्मा से कर्ण का संवाद में।

काव्य में कल्पना के रूप को सपष्ट करते हुए डॉ. राम कुमार वर्मा ने कारण कार्य पर आधारित जिस कलपना को स्वस्थ कल्पना कहा है, वह तो प्रस्तुत महाकाव्य की रीढ़ है । यहाँ कोई भी कार्य बिना कारण के घटित नहीं होता, वह चाहे शिक्षा के लिए कर्ण का मंदार पर्वत पहुंचना हो या अर्जुन से कर्ण का वैर पालना । काव्य में कारण-कार्य की अद्‌भुत श्रृंखला गुँथी हुई मिलती है, यहाँ तक प्रथम सर्ग में कुंती के दिवास्वप्न के पीछे उसकी घोर चिन्ता ही कारण है। यह दिवास्वप्न उसकी तात्कालिक मानसिक शांति का साधन बनता है ।

इसी तरह कर्ण महाकाव्य आदर्श कल्पना से रिक्त नहीं । आदर्श कल्पना नीति और आदर्श की स्थापना के निमित्त कल्पना है । महाकाव्य में कर्ण का अर्जुन से वैर का कारण, यहाँ उसका पर्यावरण और वनवासियों के हितों प्रति उपेक्षा को दिखाता है, जो राजधर्म के विरुद्ध है—आदर्श कल्पना का ही उदाहरण । इसके अतिरिक्त पिता, माता, गुरु, अतिथि, प्रकृति के प्रति अनुराग का चित्रण इसी कल्पना के उदाहरण कहे जायेंगे ।

शिल्प-सौष्ठव

महाकाव्य पर विवेचन करते हुए भारतीय काव्य शास्त्रियों ने शिल्प के अन्तर्गत सिर्फ छंद पर ही विचार किया है—यह अलग बात है कि आचार्य कुंतक ने महाकाव्य पर नये सिरे से विचार करते हुए इसमें कथा-विन्यास पर भी विचार किया।

वैसे देखा जाए तो शिल्प अपने आप में एक व्यापक अर्थ को समेटे हुए है। मुझे लगता है कि शिल्प के अन्तर्गत कथा-विन्यास से लेकर पात्र-चित्रण, रसयोजना और वाक्य-विन्यास, सबकुछ समाहित हो जाता है, अगर एक-दो शब्दों में कहना हो।

शैली-विन्यास

लेकित आरंभ मे उनकी भाषा-शैली ऐसी नहीं थी कि घूंघट में बात हो। डॉ. अमरेन्द्र के भाषा गिल्प पर बातचीत करने के पहले यह बता देना जरूरी होगा कि इन्होंने अपनी आरंभिक कविताएं सवैया या कवित्त छंदों में लिखी हैं, जिन्हें सभी तरह से हिन्दी की रचनाएं कहेंगे, इनकी आरंभिक रचनाओं में 'वेणु और वंशी' प्रमुख है जो उद्धव शतक की काव्य शैली में प्रकाशित भी है। बाद में कवित्त और सवैया में रचनाएं रचने की जगह गजल कहने की ओर मुड़ गये—तब ये 'घायल' उपनाम से जाने जाते रहे और एक लंबे समय तक इसी नाम से जाने जाते रहे, तब इनकी पहचान गजलकार के रूप में ही हो चली थी।

देश में इंदिरा गाँधी के शासनकाल में जब तक आपात काल की घोषणा नहीं हुई थी, इनकी गजलों में प्रेम भाव के अतिरिक्त सामान्य रूप से उर्दू के प्रचालित शब्दों की प्रमुखता रही, फिर आपात काल के समय इन्होंने अपनी गजलें हिन्दी में

ही कहीं। 'सूरज के पार' में संकलित इनकी गजलों से इस तथ्य को समझा जा सकता है जो गजल कहने तक इस भाषाशिल्प में बहलाव नहीं आया। बाद में जब ये अपनी मातृभाषा अंगिका में रचना सृजन से जुड़े, तो इन्होंने ठेठ अंगिका में भी विपुल साहित्य का सृजन किया—यही कारण है इनके प्रौढ़तम हिन्दी प्रबंधकाव्य 'कर्ण' के भाषा शिल्प पर इन उर्दू और अंगिका भाषाओं का प्रभाव देखा जा सकता है, भले ही अंगिका का और भी बहुत न्यून मात्रा में।

यहाँ 'मुदा' जैसे अंगिका अवश्य का प्रयोग मिल जाता है, पिरामिड जैसे विदेशी शब्द को पिरामिद अंगिका रूप दे देना भी। लेकिन इसके उदाहरण दो-एक से ज्यादा नहीं हैं। जहाँ तक उर्दू शब्दों का प्रयोग है, वह हिन्दी से भिन्न नहीं, अधिक-से-अधिक उसे हम हिन्दुस्तानी कह सकते हैं लेकिन बाहुल्य तो उन शब्दों के ही हैं, जो संस्कृत के तत्सम या तद्भव रूप हैं।

जहाँ तक शब्द-प्रयोग का प्रश्न है, वहाँ इस ओर भी संकेत कर देना आवश्यक होगा कि यूं तो कर्ण महाकाव्य में प्रबंधकार ने जहाँ-तहाँ संस्कृत के ऐसे अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है, जिसके अर्थ के लिए शब्दकोश देखना जरूरी हो जाए; जैसे, प्रबंध के आरंभ और अंत के शीर्षक को ही लें! ये शीर्षक हैं—जनुष् पर्व और पंचता पर्व। प्रबंधकार जन्म खंड और मृत्यु खंड भी लिख सकते थे, लेकिन शायद चमत्कार पैदा करने के लिए इन्होंने ऐसा नहीं किया। लेकिन यहाँ ऐसे शब्दों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं।

आगे डॉ. अमरेन्द्र के शैली-शिल्प पर कुछ और विशेष बातें हों, इसके पहले कर्ण महाकाव्य के विशिष्ट वाक्य-विन्यास को रुककर देखना जरूरी होगा। यूँ तो आलोच्य महाकाव्य के वाक्य-गठन की विशेषताओं पर कई तरह से बातें हो सकती हैं, लेकिन मैं जिस वैशिष्ट्य की ओर संकेत करता चाहती हूँ, वह है प्रश्नोत्तर शैली। प्रबंध का 'बीज पर्व' और 'आवर्त पर्व' इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं।
प्रबंध का 'मकर पर्व' और 'पंचता पर्व' भी इसी भाषा शिल्प के उदाहरण हैं :

''बोलते जाओ सभी कुछ, मैं भी तो लूँ जान,
क्या हुआ, जब अस्त मेरा हो गया दिनमान;
दे गए मेरे लिए भी क्या कोई संदेश ?
इस अभागिन के लिए कुछ आखिरी आदेश ।
''बिंध गये जब तीर से थे, कौन उनके पास ?
दूत बोलो, मौन रह कर मत करो उपहास !
सब सहूँगी, जानती हूँ, कठिन है यह काल,
शीश पर फण काढ़ता दुर्भाग्य का है व्याल ।

“पर बहू हूँ अंग की, क्षत्राणी की हूँ लाज,
जो कहो, सच-सच कहोगे; छोड़ सारे व्याज;
क्या बहुत ही कष्ट में थे, क्या दिखे थे दीन ?
हो रही होगी बहुत ही, देह श्री से हीन।”
हो गया विचलित बहुत ही दूत लेकिन फिर संभल,
खोल कर रखने लगा मन दूर रख ही वाक्छल—
कुछ नहीं ऐसा हुआ था, अंगमाता, क्या कहूँ,
शक नहीं कुछ कीजिए जो एक क्षण मैं चुप रहूँ।
“धँस गया था अंगपति के कंठ में जब तीर वह,
ग्रीव पर बहता दिखा था रक्त रेखा की तरह।
आँजलिक था, इसलिए उसका निकलना था कठिन,
पर कहाँ था, एक क्षण भी अंगपति का मुँह मलिन!
“दौड़ कर आए थे केशव ही वहाँ, उनके निकट,
भर लिया था बाँह में, तो वह गए उनसे लिपट,
और फिर कहने लगे, ‘बस कुछ समय ही शेष है,
क्लेश मुझको कुछ अगर है, तो इसी का क्लेश है;
‘क्या किया अपराध मैंने, जो लड़ा जनपक्ष में ?
योजनों तक फैले विस्तृत वन सघन के रक्ष में ?
क्या सिंहासन लोक-रक्षा का नहीं संकल्प है ?
आप कहिए, अपने मुँह से, अब समय अति अल्प है।

—पृष्ठ २४७-२४८

प्रबंधकार को शैली का यह शिल्प बहुत प्रिय है और यहीं कारण है कि इनका आत्मकथात्मक लघु प्रबंध ‘आलाप संलाप’ पूरा-का-पूरा इसी शैली में है और उसकी लोकप्रियता से अनुप्राणित होकर इन्होंने इस महाकाव्य में भी उसे प्रमुखता से स्थान दिया है।

निःसंदेह प्रबंध में प्रश्नोत्तर का वाक्य-विन्यास प्रबंध की भाषा में एक विशिष्ट आकर्षण को जन्म दे गया है। कहीं तो प्रश्नोत्तर का विधान और कहीं प्रश्न-पर-प्रश्न :

केशव, क्या कृष्णा का मैं अपमान कभी कर सकता ?
शील-रूप जिसका ही मेरे मन में रहा महकता !
“कवच और कुंडल ले जाता छल से, धर्म नियम है (?)
मृत्युभेद को पूछ, मारना यह सत्कर्म परम है (?)

नर-कुंजर का भेद कहे बिन गुरु के प्राण हरे जो,
क्या वह धर्मतनय है, केशव; धर्म देख सिहरे जो !
''राज्य बसाने की खातिर वन-जन का नाश है पावन ?
जो इसका प्रतिकार करे वह पापी घोर नराधम ?
अग्नि देव के क्षुधा-शमन को अनगिन बलि चढ़ जाए,
कैसा होगा न्यायशास्त्र वह, यह भी धर्म कहाए !

—पृष्ठ २४०

व्यक्तित्व और विषय को लेकर अगर कर्ण महाकाव्य पर विचार किया जाए तो यहाँ दोनों से दो अलग अलग शैलियों के स्रोत साफ-साफ दिखाई पड़ेंगे ।

कवि अमरेन्द्र की आरंभिक कविताओं की बात और है । भले ही वहाँ अर्थालंकार, अप्रस्तुत विधान, प्रतीक, रूपक, नाटकीयता आदि की प्रमुखता से उपस्थिति न मिले, लेकिन परवर्ती रचनाओं में इनकी प्रमुखता साफ-साफ देखी जा सकती है । अपने गीति-संग्रह 'मन गोकुल का गाँव' के एक गीत में इस कवि का कथन है :

मैं गीत इसलिए लिखता हूँ
बदनाम न मेरा प्यार बने ।

कुछ लोग मगर यह कहते हैं
मैं खुली-खुली सब बात लिखूँ
काजल लिखूँ न कालिख को मैं
या आँखों में रात लिखूँ
जब भाव छिपाए कुछ मैनें
जग ने देखा अंगार बने ।

कुछ बात दिलों की होती है
जो बोला करती मूक बनी
जग कहता—रो के दिखलाऊँ
जो सीने में है हूक बनी
मै इस चिन्ता में डूबा हूँ
किस तरह शब्द शृंगार बने ।

मैंने जग की बात न मानी
घूँघट की ही बात रखी है
हारा जहाँ-जहाँ यह दिल था
वहाँ-वहाँ पर जीत रखी है
बाँट रहा हूँ प्रेम-गीत मैं

जग जिससे ये कचनार बनें ।

—मन गोकुल का गाँव',पृष्ठ ३६

प्रस्तुत महाकाव्य में ललित कल्पनाओं की जहाँ-जहाँ उपस्थिति है, वहाँ-वहाँ कवि व्यक्तित्व की झलक है, लेकिन जहाँ बुद्धि का व्यापार है, विचारों की प्रधानता है वहाँ पर भाषा का सामाजिक रूप ही अधिक-से-अधिक प्रत्यक्ष दिखता है । इन दोनों शैलियों को हम महाकाव्य के दो सर्गों प्रमद वन पर्व और मकर पर्व को आमने सामने रख कर बहुत आसानी से समझ सकते हैं । देखें :

(क) ''पक्ष बीते, मास बीते, वर्ष बीते काल के,
पर नहीं धूमिल कहीं कुछ मन-हृदय महिपाल के;
दीठि में अब भी है चंचल रूप की वे रश्मियाँ,
स्वर्ण के प्रासाद पर वह कौमुदी की उर्मियाँ।
''आहटें ! शीतल हवा, सौरभ मलय का पास हो,
पुष्प कुम्हलाए सभी उत्फुल्ल, मधु रितु हास हो;
साँस तक रोके पवन भी पाँव रखता रुई-सा,
फूल माला से बँधाता झुंड तक था हस्ति का ।
''पूस का मन चैत होता बुढ़िया आँधी, गंध वह,
उस समय चौवाय भी पुरवाई होती अंततः;
पूर्णिमा, रतनारि दृष्टि; रजनी, कजरारी बनी,
क्या भुलायी चटक बातें छा रहीं बन चम्पई ।
''आज भी तो सेविया सुधि में समाया मन हुआ,
अब भी मन पर धानी रंग का आवरण वह अनछुआ;
टीका, टिकुली, खौर, नथ, कुंठा औ सिंकुली, चंचला
कुहनी, तगड़ी, बाज की वह बाँक की स्वर्णिम कला ।
''आज भी मुझको उड़ा ले जाती है यह मेघवन,
रंग फूलों के विहँसते आज भी तो छुम छनन ।
आज भी कचनार की मुस्कान की वंशी बजे,

माधवी, बेला-लताओं की वही माया सजे ।
''आज भी तो केतकी संगीत भरती रोम में,
चाँदनी की रास अब भी इस गहन तम तोम में;
आज भी मुचकुन्द सुरभित है, वकुल जैसे खिले !
मैं जरा विचलित हुआ तो सब के सब आ कर मिले ।

—पृष्ठ ७४-७५

(ख)

''भले तुम्हारे वाण कर्ण के रथ को बहुत ढकेले,
और कर्ण के बाण हमारे तीन हाथ ही ठेले।
तुम कहते हो, तीन हाथ पर 'वाह-वाह' क्यों बोलूँ ?
रविसुत के ही रण-कौशल पर अपना हृदय उछालूँ?
''सोचो पार्थ, तुम्हारे रथ का कृष्ण सारथी जब है,
रथ के शीश-शिखर पर बैठा मारुतपूत अलग है;
तब भी कर्ण बाण से रथ को तीन हाथ तक ठेले,
ज्यों अबोध शिशु खेल-खेल में अट्ठा-गोटी खेले।
''इसीलिए कहता हूँ तुमसे, बच कर रण करना है,
जरा हुई जो चूक, कर्ण के हाथों ही मरना है ।
पार्थ, भले ब्रह्मास्त्र नहीं हो अब तो इस योद्धा को,
लेकिन एक अस्त्र है अब भी हरने हर बाधा को ।
''बहुत यत्न से जुगा रखा है कंचन के तरकश में,
ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो न उसके वश में;
अहिमुख कहने भर को ही यह, महाकाल का मुँह है,
शोणित से रंजित काली की जिह्वा ही टुह-टुह है ।
''जिस पर छूट गया बस समझो अंत उसी क्षण आया,
यह नाराच नहीं है, यह तो तंत्र-मंत्र की माया ।''

—पृष्ठ २३६

अलंकृति

जहाँ तक इस प्रबंध में अलंकारों की बात है, तो हमें यह स्मरण रखना होगा कि यहाँ सिर्फ भावप्रेरित अलंकारों का योजन हुआ है, कौतुक सृजन के लिए नहीं। कर्ण महाकाव्य के कवि ने सिर्फ उन्ही को सामने रखने का प्रयास किया है, जो स्वाभाविक हैं। यही कारण है स्वाभावोक्ति अलंकार की यहाँ प्रधानता है। यहाँ स्वाभावोक्ति का अर्थ सपाट कथन समझना व्यर्थ होगा। काव्य में जहाँ-जहाँ भी

स्वाभावोक्ति अलंकार आए है, वहाँ-वहाँ बिम्ब इतने प्रांजल हैं कि अनुपम आकर्षण का सृजन हो गया।

''सौध कंचन के बने, मठ और मंदिर,
कुछ न जाना कौन-सा वह देश आखिर !
स्वर्ण के पथ, स्वर्ण की गलियां, चौराहे,
स्वर्ग उतरा हो धरा पर; कौन थाहे !

—पृष्ठ १४

बिम्ब के लिए उपमा-रूपक जैसे अलंकारों की भी आवश्यकता होती है, इसीकारण प्रस्तुत प्रबंध में अपना और रूपक अलंकारों की भी प्रमुखता पाते हैं :

(१) वेदवाणी-सी बहे गंगा जहाँ पर।
(२) उस समय देखा था शिशु को यूँ हुलसते
सिद्धि-निधि की गोद में सुख को किलकते।

—पृष्ठ १५

उपमा की तरह रूपक अलंकार की भी छटा यहाँ खूब है । कहीं-कहीं तो दोनों अलंकार साथ-साथ आ गये हैं :

किसी के रूपपिंजर में तड़पता-सा सुआ था

—पृष्ठ ११८

यहाँ रूपक और उपमा की एक साथ उपस्थिति है।

इसी तरह उत्प्रेक्षा अलंकार में मालोपमा अलंकार के सौन्दर्य का जुड़ आना भी देखने लायक है :

''कर्ण का बल जेठ का फैला दिवस है
मत समझना यह शिशिर की धूप के दिन
शक्ति इसकी सिंधु में ज्वालामुखी है
शिवधनुष में डोर बनकर बासुकी है।

—पृष्ठ २१४

न केवल भारतीय काव्य शास्त्रियो ने काव्य के लिए अलंकार को महत्वपूर्ण माना है, यहाँ तक कि आत्मा ही कहा है, वहाँ पाश्चात्य काव्यशास्त्रियो ने भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अलंकारों की महत्ता को स्वीकार किया है। लौगिनुस ने तो कई प्रकार के अलंकारों की ओर निर्देश भी किया है।

जहाँ तक कर्ण महाकाव्य में अलंकार-योजना का प्रश्न है, तो यह कहा जायेगा कि यहाँ शब्दालंकार बस उतने भर ही हैं, जो सहजता से आ गये हैं, इसी से पूरे प्रबंध में जहाँ-तहाँ कभी-कभार ही शब्दालंकार दिख जाते हैं, यथा :

"बुझ गई है आग, लेकिन क्या बुझी है आग ?
जल गये हों नाग, पर फुँफकारते हैं नाग ।

—पृष्ठ १४६

अभी विवश है कर्ण; उठा, तो सबको उठा चलेगा।

—पृष्ठ २३८

देखती है क्षीर-सिन्धु दधि-उदधि है,
दधिसुता, दधिसुत वहाँ, कुछ और यदि है।

—पृष्ठ १२

इन अलंकारों को यमक, वक्रोक्ति या पुनरुक्तवदाभास अलंकार के रूप में न देखकर सीधे-सीधे शब्दालंकार कह सकते हैं। वैसे यहाँ अनुप्रास अलंकार का प्रयोग प्रमुखता में देखा जा सकता है। भाषाशास्त्र में जिसे हम समांतरता के नाम से जानते हैं :

"इसलिए ही सारी शक्ति को लगाकर उड़ चला
बुझ रहा जो तेज था उसको जगाकर उड़ चला
तोड़ते दम पंख को यूँ फड़फड़ाया इस तरह
उड़ते-उड़ते देश अपना लौट आया इस तरह"

—पृष्ठ २५१

शब्दालंकारों में इसी अनुप्रास का सर्वाधिक प्रयोग यहाँ प्राप्त होता है, जो डॉ. अमरेन्द्र की भाषा शैली का एक विशिष्ट पक्ष है।

लेकिन यह बताने की जरूरत नहीं कि इस कवि की भाषा को अलंकृत करने में शब्दालंकार से अधिक योगदान अर्थालंकारों का है और अर्थालकारों में भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अलंकारों का। इन अलंकारों की सहायता से कवि को बिम्ब विधान में सफलता भी मिली है। देखे :

"स्वर्ण आसन पर सुशोभित नवजात-सा,
और स्वर्णिम सुखलहर पर भाग्य मेरा प्रात-सा;

—पृष्ठ ७८

क्या कहूँ हे देवी, कैसा देश है वह,
कुसुम कंचन का खिला; हो गंध महमह।

—पृष्ठ १४

पत्तियों से फूटता संगीत जैसे
गूंजते हैं स्वर किसी के मंद्र लय से ।

—पृष्ठ १७

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा ही नहीं, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, स्वाभावोक्ति, अतिशयोक्ति जैसे कई अर्थालंकारों के विलक्षण प्रयोग यहाँ दिख जायेंगे। यथा :

''यह क्या मुझमें परिवर्त्तन है, पर्वत है नवनीत,
प्रत्यंचा पर चढ़े वाण से फूट रहा है गीत;
बाँहों से जो बँधा गरुड़, हारिल बन खोजे ओट,
उजड़ा-पुजड़ा-सा लगता है चम्पा का ही कोट।

—पृष्ठ २०७

इनमें उपमा, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिश्योक्ति की ओर झुकाव और भी विशिष्टता के साथ। अप्रस्तुत प्रशंसा और अतिशयोक्ति के प्रति कवि का मोह और भी घना रहा है।

यह बताने की जरूरत नहीं, जैसा कि काव्यशास्त्री स्वीकार भी करते हैं कि सभी अलंकारों में किसी-न-किसी तरह अतिशयोक्ति अलंकार तो उपस्थित रहता ही है लेकिन कर्ण महाकाव्य में इस अलंकार की स्वतंत्र पहचान दूर से पहचानी जा सकती। नीचे एक उदाहरण प्रस्तुत है :

''कर्ण अगर चाहे तो वन में क्षण में आग लगा दे,
अंतरिक्ष के शून्य विवर में सोया मेघ जगा दे;
बरस पड़े सावन वसुधा पर आँधी फिर लहका दे,
एक तीर से अग्नि-हवा को चाहे तो बहका दे।
''एक तीर से नियति-काल का चक्र बदल सकता है,
एक तीर से पांडव का यह भाग्य निगल सकता है;
''एक तीर से अनहोनी को होनी भी कर डाले,
एक तीर से चाहे तो यह अपना पक्ष बचा ले।
''एक तीर से चाहे तो यह गिरि को अभी हिला दे,
जो भी है गतिमान अगति से पल में उसे मिला दे;''

—पृष्ठ ५६

ऐसा नहीं कि भारतीय आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों का सौन्दर्य ही प्रस्तुत महाकाव्य की संपत्ति है, यहाँ तो वाव्य में उदात्त तत्व के पोषक लौगिनुस ने काव्य के जिन हितेषी अलंकारों की ओर संकेत किया है, वे भी अपने वैभव के साथ यहाँ उपस्थित हैं। लोगिनुस के अनुसार काव्य में—विस्तारना, शपथोक्ति, प्रश्नालंकार, विपर्यय, पुनरावृति, छिन्न वाक्य, प्रत्यक्षीकरण, सार, रूप परिवर्तन, पर्यायोक्ति प्रमुख हैं। डॉ नगेन्द्र की पुस्तक 'काव्य में उदात्त तत्व' के अतिरिक्त आचार्य शिवबालक राय ने अतिशयोक्ति को भी इनमें शामिल किया है।

महाकाव्य के प्रथम सर्ग से ही विस्तारना का दर्शन होना आरंभ हो जाता है। गझिन रात्रि में नदी का बहाव और चंपा नगर का कसा, प्रभावपूर्ण वर्णन इसी के उदहरण हैं।

शपथोक्ति में शपथ के साथ कथनवाचन के कारण ओज का संचार होता है, इसी से काव्य में ओज के समर्थक लोगिनुस ने शपथोक्ति पर विशेष बल दिया है। कर्ण महाकाव्य में इस अलंकार के योग भी कम नहीं :

''मुझे मंदार की सौगंध, चानन,चीर की भी है,
निभाया धर्म है मैंने, निभाता ही रहूँगा मैं;
यही तो अंग से सीखा है मैंने, भूमि चम्पा से,
सुबांधव के लिए अपने हृदय पर सब सहूँगा मैं ।
''अगर इसके लिए यह अंग मेरा छूटता, तो क्या,
बचा पाया अगर जो हस्तिपुर को, धन्य हूँगा मैं,
जहाँ भी कर्ण होगा, अंग की चम्पा वहीं होगी,
विपद में पीठ देने का भला क्यों शाप लूँगा मैं ?

—पृष्ठ १०४

प्रश्नालंकार तो महाकवि अमरेन्द्र का प्रिय अलंकार है। एक पात्र के मन में उठे प्रश्नो का उसी पात्र द्वारा दिये जानेवाले उत्तरों का विधान वाव्य में एक विशिष्ट सौन्दर्य को संवाहक बनता है। कवि अमरेन्द्र नाटककार भी हैं, इसी से यहाँ यह अलंकार अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित है, जिसकी ओर अन्यत्र विचार भी किया गया है।

आवर्त्त पर्व प्रश्नोत्तर और पुनरावृत्ति अलंकार का सुन्दर उदाहरण। नीचे पुनारावृत्ति अलंकार का उदहरण प्रस्तुत है :

कहा इतना ही उठ कर, ''सब समय पर सिद्ध होगा,
टिका है जो अनय पर धर्म से वह विद्ध होगा;
अभी तो ठीक ही होगा कि चम्पा लौट जाऊँ,
दिगम्बर छन्द की टूटी हुई कड़ियाँ सजाऊँ !
''शिराओं में सभी सोए हुए सपने जगाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चम्पा लौट जाऊँ !
यहाँ बैठे हुए चिनगारियों को क्यों उठाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चंपा लौट जाऊँ !
''तनय वृषकेतु को अब अंगपति जाकर बनाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चंपा लौट जाऊँ !

वृषाली पर अकेले अंग-शासन भार पाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चंपा लौट जाऊँ !
''पिता के और पति के धर्म को मैं क्यों लजाऊँ,
अभी तो ठीक ही होगा कि चंपा लौट जाऊँ!
पिता, पति, भूमिपति के धर्म को ऊँचा उठाऊँ,
यही तो ठीक होगा कि चंपा लौट जाऊँ !''

—पृष्ठ १२६-१२७

कर्ण महाकाव्य में समासोक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा की भी प्रमुखता है, और कवि का यह प्रिय अलंकार है । यहा मैं स्पष्ट कर दूँ, कि मैं दोनों अलंकारो को एक ही मानकर चली हूँ, क्योंकि दोनों में प्रस्तुत से अप्रस्तुत का उल्लेख होता है। कुछ उदाहरण देखें,

(१) इन्द्रधनु की रश्मियां; रवि का दिवस है,
वृक्ष पर सूखी लता भीगी-सरस है।
(२) केतकी की गंध ककी पदचाप जागी, थम गई,
वायु में हलचल हुई कुछ और वह जम गई।

—पृष्ठ ८१

(३) हो रही पदचाप, साँसें मालती की
धड़कनें उड़तीं पवन पर हैं नदी की ।

—पृष्ठ ९०

(४) सुयोधन सोच न पाया, हुआ यह क्यों अचानक,
अशुभ कुछ सोचना होगा अमंगल, घोर पातक ।
इधर है डूबता अब सूर्य किरणों को समेटे,
उधर पूर्वी क्षितिज पर भोर किरणों को लपेटे ।

—पृष्ठ १२६

'कर्ण' में प्रकृति सिर्फ अपने सौम्य रूप में ही नहीं, अपने विकट रूप को आभास कराती भी उपस्थित है। 'गिरिडीह' पर्व में प्रकृति के इसी भयावह रूप का हमें दर्शन होता है। इस पर्व में कवि ने प्रकृति के दोनों रूपों को साथ-साथ आमने-सामने रखा है :

''बादलों से बात करने को विकल ये वृक्ष,
क्या यही पर्वत वही है, जिसको कहते ऋक्ष ?
गिरि-शिखर से बात करते ऊँचे उठते पेड़
देख कर यह मेघशावक आके जाते छेड़।

"लग रहा है बादलों से ये करेंगे बात,
यह सघन छाया कि जैसे हो रही हो रात ।
पर्वतों पर लोटतीं नदियों का मधुमय राग
डीह गिरि का देख पाई, धन्य मेरा भाग !

—पृष्ठ १४१

"फिर अचानक एक दिन टूटा प्रलय का वेग,
ज्वार सागर के यहाँ पहुँचे बढ़ाए डेग;
गिर गये प्रासाद पत्थर के, गिरे सब कोट,
बिछ गया जंगल धरा पर खाके उनकी चोट ।

—पृष्ठ १४८

बिंब विधान

डॉ. श्वेता रानी ने अपने शोधप्रबंध 'डॉ. अमरेन्द्र : साहित्य और समीक्षा' में डॉ. अमरेन्द्र के व्यक्तित्व के संबंध में यह जानकारी देते हुए लिखा है "अमरेन्द्र के व्यक्तित्व के कई-कई ऐसे पक्ष हैं, जिन्हें संक्षेप में समेटना मुश्किल ही है। यहाँ इनके व्यक्तित्व के कुछ पक्षों पर संक्षिप्त चर्चा है।

रेखांकन और मूर्त्ति गढ़ने का शौक बचपन से तब अमरेन्द्र जी तीसरी-चौथी क्लास के विद्यार्थी रहे होंगे। मुंदीचक के प्राइमरी स्कूल के छात्र। विष्णु साह के मकान का ऊपरी भाग इनके पिता जी ने किराया पर ले रखा था। एकदम चौक पर जहाजनुमा मकान था-अब भी है और इसी से सटी सड़क के उस पार अमरेन्द्र जी का स्कूल था।

इन्हें उसी समय से चित्र बनाने का शौक था। अमरेन्द्र जी को बहुत तो याद नहीं, लेकिन इतना याद है, कि इन्होंने अपनी ही तस्वीर दीवाल पर बनाई थी, बाएँ हाथ में आईना लिया था और चेहरे में बिना हरकत लाए दाएँ हाथ से बायीं दीवाल पर अपने चेहरे की रेखाएँ खींची थी। कागज पर तो बहुत तस्वीरें तब भी उतारी थीं, लेकिन दीवाल पर रेखाएँ! इसलिए याद रह गयीं कि इस तरह की उनकी कोशिश पहली थी और शायद इसलिए भी कि वह इनका ही चित्र था।

कला के प्रति इनकी रूचि इसीसे कोई समझ सकता है कि मुंदीचक में ही, उनके घर से पचास-साठ कदम की दूरी पर एक कला-शिक्षक रहते थे, ये उनके बरामदे पर खड़े-खड़े बड़ी खिड़की से उन्हें मिट्‌टी की मूरत पर रंग फेरते देखते। साँचे से निकाली गई ईसा मसीह की कई मूर्त्तियाँ उनके कमरे की दीवार पर टंगी रहतीं। और एक दिन ऐसा हुआ कि कलाकार को कमरे में अनुपस्थित देख बालक अमरेन्द्र कलाकार के कमरे से ईशु वाली मूर्त्ति उठा लाये। कलाकार ने अनुमान लगाया कि

यह काम उसी बालक का होगा। अमरेन्द्र जी ने जब उन्हें घर के आस-पास मंडराते देखा तो मूर्त्ति को तोड़-ताड़ छत से ही नीचे की नाली में फेंक दी।

इनका दुर्भाग्य कहिए कि कलाकार की नजरें उस टूटी मूर्त्ति पर पड़ गईं और इनकी चोरी अब सिद्ध हो चुकी थी। कलाकार ने शाम को इनके पिताजी से शिकायत की और फिर इनकी जिस तरह धुनाई हुई थी, उसे भूलना अमरेन्द्र जी के लिए आज भी एकदम मुश्किल है।

लेकिन इस मार से उनकी कलाप्रियता टूटने की जगह और भी बढ़ गई। उन्होंने साँचा बना लिया था और मूर्त्तियाँ बनाते, लेकिन यह कारीगरी आसान जान कर इन्होंने उसे छोड़ दिया-साँचे पर नहीं, छूरी और पत्ती के सहारे मिट्टी के लोंदे को काट-काट कर मूर्त्तियाँ गढ़ने लगे। यह बात तब की है, जब वे मध्य विद्यालय में चौथी-पाँचवीं के छात्र होंगे। आगे उन्होंने पत्थर को भी तराशना शुरू किया, छेनी से। लेकिन कठिन काम था यह। एक बड़े गोल और सफेद पत्थर को तराश कर उसे मनुष्य के चेहरे की शक्ल दी थी, इतना उन्हें अब भी याद है। तब अमरेन्द्र जी मुंदीचक में ही कपिलदेव मिश्र के मकान में किरायेदार थे और आई. ए. के छात्र थे। बाद में उन्होंने उस प्रस्तर-मूर्त्ति को मकान के ही हाते में बने मंदिरवाले कुआँ में डाल दिया था, यह सोच कर कि कभी खुदाई होगी, और यह मूर्त्ति लोगों को मिली तो यह भी पूजित हो जायेगी।

मूर्त्ति का कुआँ में डालना एक तरह से मूर्त्ति-कला की ओर से इनका वापस लौटना भी था। इन्हें याद नहीं कि इन्होंने फिर कभी मूर्त्ति बनाई हो।

लेकिन मूर्त्ति और चित्र के प्रति इनका गहरा लगाव बाद में शब्दों से रूप खड़ा करने की रुचि में बदल गया। रेखाओं की जगह शब्दों से चित्र बनाने लगे। उनकी शादी ७० ई. में हुई और इसके चार, पाँच साल पूर्व से ही वे कविता रचने लगे थे। मेरे एक प्रश्न के जवाब में उन्होंने मुझसे कहा था कि, ''आरम्भ में तो नहीं कह सकता कि मेरी कविताओं में चित्र की उपस्थिति कितनी रही, लेकिन बाद की कविताओं में यह है। और मुझे लगता है कि मेरी कविताओं में बिम्ब का जो आग्रह है, वह किसी मत या सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण नहीं, बल्कि बचपन से ही मूर्त्ति-निर्माण और रेखांकन के प्रति गहरे लगाव के कारण है। मूर्त्ति गढ़ने का शौक, वह चाहे जिस कारण से हो, अपनी मंजिल न पा सका और मेरा वही शौक चित्रमय कविता गढ़ने में बदल गया।''

इनकी यही प्रतिभा आगे चलकर इनकी काव्यभाषा में उजागर हो गई, अगर यह कहा जाय, तो गलत नहीं होगा। चाहे मूर्त वस्तु का चित्र-विधान हो या अमूर्त भाव का, सब जगह ही प्रबंधकार की यह प्रतिभा अनूठे ढंग से सक्रिय है। यही कारण

है कि बिंब का वह कोई भी रूप क्यों न रहे, वह बहुत साफ और चटकीला बना हुआ है। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं :

(१) ले रहा शिशुरूप, फिर किलकारियाँ हैं,
गीत मंगल गा रही-सौ नारियाँ हैं ।
अंग ज्यों कंचन तपा-सा बहुत दपदप,
कर रहा है लघु करों से वारि छपछप ।

—पृष्ठ १२

(२) देखती है क्षीर-सिन्धु दधि-उदधि है,
दधिसुता, दधिसुत वहाँ, कुछ और यदि है।
वृष्टि केशर की, खिला अम्बर कमल-सा,
हो गया हो व्योम कंचन के महल-सा ।

—पृष्ठ, वही

(३) रात भर तिगुनी रही थी गति मरुत की,
और तिगुनी धार चन्दन की अनोखी ।

—पृष्ठ १३

(४) ऋषि-तपस्वी, मुनिवरों की भूमि है वह
कुसुम-कंचन का खिला-सा, गंध महमह!

—पृष्ठ १५

(५) पत्तियों से फूटता संगीत जैसे
गूंजते हैं स्वर किसी के मंद्र लय से ।

—पृष्ठ १७

यहाँ श्रवण बिंब, स्पर्श बिंब, घ्राण बिंब, के उदाहरण देखे जा सकते हैं और ये सभी प्रबंध के प्रथम सर्ग में ही हैं। आगे के सर्गों में इन बिंबों के साथ अनेक-अनेक बिंबों के और भी खुले रूप देखे जा सकते हैं।

प्रतीक

कर्ण काव्य में मुख्य रूप से दो प्रकार के प्रतीक प्राप्त हैं, एक तो सांस्कृतिक; दूसरे प्रकार के प्रतीक हैं, प्राकृतिक ।

इस काव्य में आये सभी पौराणिक-धार्मिक पात्र सांस्कृतिक प्रतीक के अनतर्गत ही तो आते हैं जो अपने अर्थ में पुराने रूढ़ अर्थों की जगह नवीन और आधुनिक अर्थों को समक्ष रखते प्रतीक हैं।

इसी तरह यहाँ प्रकृति के रूप बहुत बार काल के साथ पात्रों की मानसिक

दशाओं को बताते प्रतीक ही हैं। इस तरह इस महाकाव्य में आये रंगों पर भी अगर हम विचार करें तो वे रंग भी किसी पात्र-वस्तु के प्रतीक ही ठहरेंगे। इस बात को हम इस प्रबंध काव्य में आये स्वर्ण या स्वर्णिम शब्द की बार-बार आवृत्ति से भी समझ सकते हैं। यह एक शब्द काव्य में पात्र के आंतरिक-बाह्य मनःस्थिति को प्रतिबिम्बित ही नहीं करता बल्कि-काल की स्थितियों को उद्घाटित करने में भी सफल है।

मनोविज्ञान और नाटकीयता

कर्ण महाकाव्य में प्रश्नोत्तर संवाद-शैली जहाँ मनोविज्ञानिक दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्व रखता है, वहाँ यह काव्य के विधान पक्ष की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। इस बात को तो काव्य में औदात्य के प्रबल समर्थक लौंगियनुस के इस विचार से भी समझ सकते हैं कि काव्य में प्रश्नोत्तर शैली के विधान से काव्य को अधिक प्रभावशाली बनाता है। इस बात को लोगियनुस ने शव्य में समुचित अलंकार-योजना के संदर्भ में कही है, जहाँ पात्र स्वयं ही प्रश्न कर उसका समुचित उत्तर भी देकर समस्या का समाधान स्वयं करता है। कर्ण महाकाव्य का आवर्त पर्व इसका श्रेष्ठ उदाहरण। अन्य सर्गो में भी काव्य के इस अलंकार को देख सकते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि लौंगियुनस ने इस विचारविधान की शैली को अलंकार के अन्तर्गत ही रखा है।

कर्ण महाकाव्य या काव्य रूपक

यह सही है कि डॉ. अमरेन्द्र पहले कवि है, बाद में नाटककार और कथाकार। लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इनका नाट्य साहित्य भी कम विस्तृत नहीं। इनके प्रसारित रेडियो नाटकों की संख्या ही चालीस से कम नहीं होगी, जिसमें महाकवि भास की तरह कड़ियों की नाट्य श्रृंखला 'अमृत देश : अंग प्रदेश' तेरह भागों वाला 'महाकवि भास' भी शामिल हैं। रेडियो नाटक के लेखक के रूप में इन्होंने रेडियो रूपक के अतिरिक्त गीति नाट्य भी कम नहीं लिखे, जो भागलपुर आकाशवाणी से प्रसारित हैं। इन्होंने रेडियो से अलग रंगमंच के लिए भी हिन्दी-अंगिका में काव्य रूपकों, नाटकों की रचना की है। 'श्रृष्यशृंग' हिन्दी में इनका लोकप्रिय काव्यरूपक है, तो 'पंचामृत' अंगिका में लिखे गये एकांकी रूप में काव्यरूपक। इसीसे इनके निबद्ध काव्य पर भी अगर काव्य नाटक का प्रभाव हो, तो आश्चर्य प्रकट करना व्यर्थ होगा।

जहाँ तक डॉ. अमरेन्द्र के आलोच्य महाकाव्य पर नाट्य शिल्प के प्रभाव का प्रश्न है, तो यह नहीं कहा जा सकता है यह प्रबंध पहले रेडियो रूपक के करीब है, या काव्य नाटक ही है। अगर इसके प्रथम सर्ग 'जनुष पर्व' को ही लें, तो देखेंगे कि पहली दो पंक्तियां जैसे सूत्रधार की कही पंक्तियों ही हैं, जैसा कि नाटक या रेडियो नाटक में काल या देश के निर्देश के लिए कही जाती हैं—फिर कुंती का एकालाप शुरू होता है और इस एकालाप के समाप्त ही सूत्रधार या वाचक का कथन दृश्यविधान करने लगता है--दृश्य के साथ कुंती की मानसिक स्थिति को बताने के बाद वहाँ प्रहरी का प्रदेश होता है, जो सारी घटनाओं की पूर्ण जानकारी देता है, और उसके जाते हीं नाटकीय ढंग से वहाँ सूर्य की उपस्थिति होती है, जो सब तरह से

अपने कथनों द्वारा कुंती को प्रसन्न करना चाहता है और करता भी है।

आलोच्य महाकाव्य के सभी सर्ग पात्रों के संवादों से गठित हैं, लेकिन कई ऐसे सर्ग भी हैं, जो एकालाप के ही सर्ग हैं। बीज पर्व यानी सर्ग तीन का आरंभ सूत्रधार द्वारा देश-काल और कर्ण की मानसिक स्थिति के विस्तृत निर्देश के बाद कर्ण का एकालाप शुरू होता है

एकालाप को दीर्घता से बचाने के लिए सूत्रधार का बीच में भी आगमन होता है और उसी के कथन से दृश्य की समाप्ति भी।

वह काव्य रूपक हो या रेडियो रूपक, कार्य-व्यापार तो दोनों के लिए आवश्यक है, इसी से कर्ण महाकाव्य का रूपककार संवादों के माध्यम से कार्यव्यापारों के उद्घाटन में चूकता नहीं।

यूँ तो आलोच्य प्रबंध में, ऐसे कई सर्ग है, जहाँ एकालाप का खूबसूरत संयोग मिलता है, प्रज्ञा पर्व इसका उदाहरण है, लेकिन आवर्त्त पर्व और प्रपंच पर्व इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। वैसे आवर्त्त पर्व में कवि ने नायक का प्रतिरूप, जो उसके मन का प्रतीक है, सामने उपस्थित कर, दो पात्रों के बीच की संवाद-योजना उपस्थित की है, लेकिन है यह एकालाप का एक रूप ही। प्रपंच पर्व भी एकालाप का ही एक रूप है, भले ही पत्र रूप में हो, जिस बात को कर्ण के आरंभिक वचनों से समझा जा सकता है।

कहना न होगा कि कर्ण महाकाव्य का रूपकत्व न केवल इसमें संवादों की प्रमुखता के कारण उजागर है, बाल्हि देशकाल के आवश्यक निर्देश के कारण इसके रूपकीय व्यक्तित्व को बहुत आसानी से समझा जा सकता है, जो जितना विचारात्मक काव्य नाटक है, उतना ही भावात्मक काव्य रूपक भी।

भावात्मक काव्य रूपक की दृष्टि से अगर महाकाव्य का तेईसवां सर्ग 'पंचता पर्व' श्रेष्ठ उदाहरण है, तो इसके पूर्व का मकर पर्व, विचारात्मक काव्य नाटक का अप्रतिम उदाहरण ।

कर्ण में उदात्त और औचित्य का निर्वाह

कर्ण महाकाव्य इसलिए महाकाव्य है कि इसमें उदात्त होने के वे सारे गुण मौजूद हैं, जो किसी काव्य को महान बनाते हैं। पूर्व में आलोच्य काव्य के अलंकार सौष्ठव पर संक्षेप में विचार हो भी चुका है और जहाँ तक भाषा के औदात्य के प्रश्न है, इसमें सिर्फ शब्द प्रयोग ही शामिल नहीं हो सकता, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक-विधान सब भाषा के ही अंग हैं। लोगिनुस ने जिन्हें अलंकार के भेद माना है, दरअस्ल वे भाषा के अंग से अलग नहीं हैं।

काव्यशास्त्री लोंगिनुस ने उदात्त काव्य के लिए गरिमामय रचना-विधान को भी बहुत आवश्यक माना है। जब हम गरिमामय रचनाविधान की बात करते हैं, तो इसमें विचार, भाषा से लेकर इनके रूप और औचित्य तक की बातें समाहित हो जाती हैं।

जहाँ तक भाव और विचार का प्रश्न है, तो यह बिना हिचक के कहा जायेगा कि प्रस्तुत प्रबंध काव्य में हृदय और मस्तिष्क का अद्भुत संयोग हो पाया है। महाकवि ने आधुनिकता के मोह में प्रेम, वात्सल्य, दया, दान, धर्म, जैसी चीजों को पीछे छोड़ दिया है, ऐसा तो बिलकुल ही नहीं, बल्कि कहा तो यही जायेगा कि विचार की जगह श्रेष्ठ भावों को इस प्रबंध में प्रमुखता के साथ स्थान प्राप्त है, विचारों को इसके बाद ही स्थान प्राप्त है, भले ही वे जितने श्रेष्ठ विचार हों। फिर जहाँ उदात्त विचार प्रकट हैं, वहाँ भी उदात्त भाव भव्यत्ता में उपस्थित है। प्रज्ञा पर्व को ही देखें, अगर यहाँ ज्ञान की श्रेष्ठता पर मनन-चिंतन है, तो वात्सल्य और गुरुभक्ति का भी वैसा ही श्रेष्ठ रूप उपस्थित है। मकर पर्व में धर्म को लेकर जो वैचारिक द्वन्द्व है, वहाँ मस्तिष्क की शक्ति मन को अभिभूत करती है, तो कर्ण की वीरता को लेकर

कृष्ण के वचन और भी आह्लाद सृजित करने वाले हैं। इसी से अगर यह कहा जाता है कि डॉ. अमरेन्द्र ने अपने इस प्रबंध में तर्कपूर्ण विचारों को समुचित स्थान दिया है और जिसके कारण ही काव्य में एक नैसर्गिक आकर्षण हम पाते हैं। चन्द्रातप पर्व में रानी राधा की चिंता, प्रज्ञा पर्व में परशुराम के विचार, आवर्त पर्व में कर्ण के तर्क, सहृदय को आह्लाद से इसलिए भरते हैं कि ये विचार असामान्य रूप से अकाट्य है। विचारों की यही असामान्यता और अकाट्यता यहाँ औदात्य के सृजन में सक्षम है, जिसके पीछे आधुनिक मनोविज्ञान की ताकत सक्रिय है। पर्यावरण और वनवासियों को लेकर कर्ण के विचार इसी के अन्तर्गत समाहित हैं।

लेकिन यह महाकाव्य इससे भी कहीं अधिक मूल्यवान बना रहेगा, तो पुत्र के प्रति माँ-पिता के अनुराग, माँ-पिता के प्रति पुत्र की भक्ति, गुरु के प्रति श्रद्धा, पत्नी-प्रिया के प्रति प्यार, प्रकृत्ति के प्रति आकर्षण, अग्रजों के प्रति सम्मान, दया, दान, धर्म, ओज, की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति के लिए ही, जिसे हम कर्ण महाकाव्य में जनुष् पर्व से अंतिम सर्ग पंचता पर्व तक प्रमुखता में फैला हुआ पाते हैं।

यहाँ इस ओर संकेत करता उचित होगा कि उदात्त के परवर्त्ती व्याख्याकार भी बुद्धि पक्ष को सौन्दर्य की सीमा में नहीं मानते, कारण है, कि इसमें लाभ-हानि की चिंता पहले होती है, भाव में लाभ-हानि की चिन्ता नहीं होती, वहाँ तो आत्मा का आह्लाद से भर जाना या उच्च स्तर पर पहुँच जाना भर होता है, अभिभूत होकर रह जाना भर। लेकिन डॉ. अमरेन्द्र को ऐसा भाव भर स्वीकार नहीं, इसी से ये तर्क, बुद्धि को भी अपने प्रबंध में जोड़ते हैं। औचित्य को समझते हुए यह जरूरी भी था, क्यों कि जहाँ बुद्धिपक्ष शून्य हो और सिर्फ हृदय ही उपस्थिति, तो वहाँ खंडित उदात्तता ही होगी।

संभवतः लोंगिनुस के इस विचार को देखते हुए कि भय, शोक-उदात्त तत्व के विरोधी हैं, इसी कारण इस प्रबंध का अंत कर्ण की मृत्यु यानी शोकांत होने के कारण इसे उदात्त में सहायक काव्य नहीं मान सकते लेकिन कवि अमरेन्द्र ने मृत्यु के रूप को भी जिस भव्यता में चित्रित कर इसे जैसा आह्लादक बना दिया है, कि इससे औदात्य का प्रवेश एकदम सहज हो गया है। यहाँ दूत से अपने पति कर्ण की मृत्युकथा सुनकर वृषाली आँसू नहीं बहाती, भले ही विषाद में होती है। मृत्यु की मार्मिक कथा उसे दहलाती नहीं, बल्कि कर्तव्य पथ पर डटे रहने की शक्ति का संचार करती है, इसी से हम कह सकते है कर्ण प्रबंध में शोक-भय जैसे भाव भी, जो उदात्त के विरोधी तत्व हैं, वे भी यहाँ उदात्त के सहायक बन कर ही आये हैं। इस कथा को सुनकर या पढ़ कर आत्मा के विस्तार में कोई संकोच नहीं होता, बल्कि वह और

भी विस्तृत तथा शक्ति से संपन्न होती है। इसमें कोई शक नहीं कि ऐसा अगर यहाँ है, तो डॉ. अमरेन्द्र की जन्मजात प्रतिभा के कारण है, अर्जित प्रतिभा से ऐसे चमत्कार काव्य के हर प्रसंग में नहीं देखे जा सकते।

यहाँ इस ओर संकेत कर देना आवश्यक ही होगा कि न केवल लोंगिनुस ने बल्कि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य हेतु के रूप में कवि भी प्रतिभा को पहली पंक्ति में रखा है। अभ्यास से जो प्रतिभा-ज्ञान अर्जित होता है, उससे काव्य में ऐसे चमत्कार का दिखना दुर्लभ ही है।

यह कर्ण महाकाव्य के महाकवि की प्रतिभा ही है कि इन्होंने गिरिडीह पर्व के उजाड़ प्रदेश में फैली निर्जनता, निस्तब्धता में विराटता की उपस्थिति से उदात्त को उतार लाया है, क्यों कि उदात्तता के लिए विराटता, भव्यता का होना जरूरी है। वह चाहे जनुष् पर्व में अंग देश की विराटता-भव्यता के चित्र हों या मेघवन पर्व में वन की विशालता, अपूर्वता या मकर पर्व में कर्ण का रण-कौशल, सभी जगहों में चित्रण की भव्यता के कारण वहाँ उदात्त ही उपस्थिति सहज हो गई है। यहाँ पुनः दुहराना जरूरी होगा कि वर्णन की भव्यता काव्य में उदात्त तत्व को जन्म देती है और प्रस्तुत महाकाव्य में कदम-कदम पर बिम्बों की उपस्थिति से यह सौन्दर्य और भी सहज हो गया है।

यहाँ औदात्य विश्लेषण के क्रम में इस बात की ओर संकेत करना भी आवश्यक है कि अगर इस महाकाव्य में उदात्त के तत्व हैं, तो यह निश्चित रूप से कवि की नैसर्गिक प्रतिभा के कारण। अगर बाल्मीकि और तुलसी के राम उदात्त गुण से संपन्न हैं, तो बहुत आश्चर्य की बात नहीं, वे तो पहले से उच्च कुलोद्भव होने के कारण उच्च गुणों से संपन्न हैं, लेकिन डॉ अमरेन्द्र ने अपने महाकाव्य के जिस पौराणिक पात्र को उठाया है, वह जन्म और कुल से भी अभिशापित है और इतिहास के इस शापित पात्र को शील के शिखर तक पहुँचाना सहज तो नहीं था, लेकिन कवि ने अपनी विशिष्ट प्रतिभा के बल पर यह संभव कर दिखाया है और यही कारण है कि इस महाकाव्य का कर्ण सहृदय को औत्सुक्य और आह्लाद से भर देता है।

फिर औदात्य के सृजन के लिए कवि ने अस्वाभाविक कल्पनाओं का सहारा लिया हो, ऐसा भी नहीं है। इसमें मूल घटनाओं के साथ कर्ण के जीवन से जुड़ी जो छोटी-छोटी घटनाएं आई हैं, वे लोक में प्रचलित कथाएं ही हैं। हाँ, कवि ने उन्हें उपयुक्त जगहों पर लाकर कथा को अधिक विश्वसनीय और रोचक बना दिया है और जो कवि की कल्पना से आई कथा है, उसके बिना तो कर्ण का जीवन ही खड़ा नहीं होता। चंपां और गिरिडीह के प्रसंग कवि की कल्पना की देन हैं जो मूल कथा की खाई को भरते ही नहीं, नवीनता भी पैदा करते हैं।

यह कहने की जरूरत नहीं कि काव्य में औचित्य का प्रश्न लोंगिनुस के उदात्त सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है। काव्य में गरिमापूर्ण रचना-विधान तब तक संभव नहीं, अगर उसमें कथातत्व की कसावट नहीं और न भाषा की कसावट हो। कथा शिल्प पर पहले भी बात्त हो चुकी है और भाषा विधान के सौष्ठव पर भी। यहाँ वर्णन का फैलाव तो है लेकिन अनावश्यक नहीं। हाँ एक ही बालों की पुनरावृत्ति, वह भी क्रम में न होकर व्यतिक्रम में होना अवश्य खलता है। काव्य में द्रोपदी का स्वयंवर प्रसंग कुछ ऐसा ही हे और इसी कमी की ओर संकेत करते हुए जब मैंने जब अमरेन्द्र जी से पूछ लिया था, तो उन्होंने मुस्कराते हुए कहा था—काव्यशास्त्री लोंगिनुस ने व्यतिक्रम, विपर्यय, पुनरावृत्ति, छिन्न वाक्य को भी काव्य के अलंकारों में ही गिना है। और अगर ऐसी गलती हो गई हो, तो क्या कीजे। महाकवि भी तो कवि ही होता है, गलतियां उससे भी होती ही हैं।

जो हो, जिस तरह अपने महाकाव्य कर्ण में कवि उदात्त के प्रति सजग रहे हैं, उसी तरह औचित्य के प्रति भी सावधान और इसी सजजता-सावधानी के कारण महाकवि ने न तो पात्रों की भीड़ इकट्ठी है और वीर रस प्रधान काव्य होने के बावजूद युद्धों और अस्त्रों की भीड़ को जमने दिया है। अस्त्रों के नाम सिर्फ एकबार, वह भी एक-दो अनुबंध में, बीज पर्व में आये हैं। व्यर्थ का फैलाब देने की कोशिश कवि ने कहीं नहीं की, सिर्फ एक पर्व ही ऐसा है जहाँ वृक्षों के नाम गिनाये गये है और पूरा सर्ग वन के सौन्दर्य पर खर्च किया गया है और ऐसा इसीलिए हुआ है कि इस महाकाव्य का महाभाव ही वन और वनवासी की रक्षा है, जिसके प्रति महानायक के लगाव को दिखाने के लिए यह विधान हुआ है, जो औचित्य से किसी तरह भी बाहर नहीं।

कवि अमरेन्द्र ने महाकवि होने के गुण को दिखाने के लिए न तो इतनी बड़ी कथा को हजार पृष्ठों में बाँधने का चमत्कार दिखाया है, न वेशवदास की तरह छंदों का प्रदर्शन किया है। कुछ छंदों में तेईस पर्वो की कथा सिमटी हुई है, जो अपवाद को छोड़कर चतुष्पदी के अनुबंधों में सुगठित है।

शैली की दृष्टि से भी अगर कर्ण महाकाव्य के अभिव्यंजना पक्ष पर विचार करें, तो देखेंगे कि प्रतीक, बिम्बों की प्रचूरता, ध्वनि और अलंकारों की सुगठित व्यवस्था के बावजूद भाषा कहीं से भी दुर्बोध नहीं है। अर्थ के संप्रेषण में शैली कहीं से भी बाधा नहीं उपस्थित करती बल्कि अपने संगीतात्मक प्रवाह में अर्थों को लुढ़काती-खोलती चलती है। रोमन कवि होरेस ने विषयवस्तु, चरित्र, शैली, छंद आदि को लेकर जिस औचित्य सिद्धांत की स्थापना की है, उस दृष्टि से कर्ण महाकाव्य हमें वहीं से निराश नहीं करता।

सभी कोणों से विचार करने पर यही कहा जा सकता है कि प्रबंधकार ने इस प्रबंध का शीर्षक अगर कर्ण रखा है, तो सही ही है, निःसंदेह इस प्रबंध का एक लक्ष्य पर्यावरण और वनवासियों के प्रति राज्यधर्म को बताना ही है लेकिन कलात्मकता की दृष्टि से इस उद्देश्य या महाभाव के लिए क्या अन्य शीर्षक हो सकता था? फिर घटनास्थल को ध्यान में रखते हुए अगर इसका शीर्षक खांडव वन कर दिया जाता, तो वनवासियों के प्रति राज्यधर्म का संदेश छूट जाता, इसी कारण इस महाकाव्य का शीर्षक काव्यकार ने कर्ण ही रखा है, क्यों कि प्रकृति और जनरक्षा के भाव कर्ण के व्यक्तित्व के प्रमुख अंग हैं और इस दृष्टि से यह शीर्षक पूर्णतः उचित है। कर्ण शीर्षक से इस महानायक में व्यक्तित्व के सभी अंग समाहित हो जाते हैं।

छंद-विधान

छंद क्या है—लघु-गुरु स्वरों या व्यंजनों का निश्चित संख्या में सुनियोजित विधान ही तो छंद है, जिस छंद की अनिवार्यता को न केवल भारत के काव्यशास्त्रियों ने ही अनिवार्य माना है, बल्कि पाश्चात्य काव्यशास्त्री ने भी महाकाव्य के लिए छंद की अनिवार्यता पर बल दिया है। महाकाव्य के रूप-विधान के सिलसिले में काव्यशास्त्री अरस्तू ने महाकाव्य के लिए षट्पदी छंद पर विशेष बल दिया है, लेकिन भारतीय काव्यशास्त्र में ऐसे किसी एक छंद का महाकाव्य में होने का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ पाठ की गत्यात्मकता को ध्यान में रखते हुए एक सर्ग में एक ही छंद के विधान को अवश्य महत्व दिया गया है और इसके साथ यह भी जोड़ा गया है कि सर्ग के अंत में अवश्य छंद-परिवर्त्तन किया जा सकता है जो आगे के सर्ग में होने की ओर संकेत देता है।

वैसे एक सर्ग में एक छंद के विधान की बात भी हिन्दी के महाकवियों ने स्वीकार नहीं किया है। मैथिलीशरण गुप्त जी के 'साकेत' में ही एक सर्ग में एक विशेष छंद का पालन हुआ है, ऐसा नहीं है। प्रसाद ने अपने प्रबंध कामायनी में ही इसका अक्षरसः पालन कहाँ किया है। इसके प्रथम सर्ग में चौपाई वर्ग के तीन-तीन छंदों का यहाँ प्रयोग है। प्रथम सर्ग की प्रथम चार पंक्तियां :

हिमगिरि के उतुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भीगे नयनों से ।
देख रहा है प्रलय प्रवाह ।

चौपाई और चौपई के योग से बने चरण हैं, तो इसी सर्ग के अन्य बंध

चौपाई और हाकलि के योग से निर्मित हुए हैं–चौपाई सोलह मात्राओं का छंद है, चौपई पंद्रह मात्राओं का, जिसके अंत में एक गुरु और एक लघु का विधान होता है, जबकि हाकलि चौदह मात्राओं का छंद है, चौपाई के अंतिम दो मात्राओं को हटा देने से यह छंद बन जाता है। हाकलि के अंत में भी चौपाई की तरह दो गुरु (ऽऽ), एक गुरू दो लघु (ऽ।।) या फिर दो लघु एक गुरु भी हो सकते हैं। प्रथम सर्ग में इसका इस प्रकार हैं,

नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन ।

इस संबंध में एक विशिष्ट जानकारी जो मुझे डॉ. अमरेद्र से ही मिली है कि मात्रिक छंद में दो लघु मिलकर एक गुरु हो जाते हैं, इसीसे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि हाकलि के अंत में दो लघु हैं या एक गुरु और इसी कारण कर्ण महाकाव्य में छंद-संबंधी ऐसा विधान देखा जा सकता है।

डॉ. अमरेन्द्र सिर्फ सारस्वत कवि ही हैं, ऐसी बात नहीं। संस्कृत, फारसी, प्राकृत के छंदों का भी इन्हें गहरा ज्ञान है। अपने इसी ज्ञान के कारण इनकी यह मान्यता है कि हिन्दी में कुछ एक मात्रिक छंदों को छोड़कर देखें, तो अधिकांश छंद वार्णिक ही हैं, जो अंतर दिखता है, वह इसिलए कि मात्रिक छंद में दो लघु एक गुरु हैं, वार्णिक छंद में गुरु ही गुरु हो सकते हैं।

कर्ण महाकाव्य के छंद-विधान के वैशिष्ट्य को संपूर्णता से समझने के लिए यह बहुत जरूरी है कि यहाँ प्रयुक्त छंदों में न केवल मात्रा-विधान पर ध्यान केंद्रित किया जाय, बल्कि छंद में प्रयुक्त चरणों, तुक, तुक के रूप, स्थिर पद-आवृत्ति (रदीफ) को ध्यान में रखते हुए ही यहाँ प्रयुक्त छंदों के भेदों पर विचार किया जाना ठीक होगा, तभी कर्ण महाकाव्य में छंद-विधान का सौन्दर्य प्रकट हो सकेगा।

चरण या अनुबंध की दृष्टि से छंद-भेद :

पाश्चात्य काव्यशास्त्री अरस्तू ने अवश्य महाकाव्य में षट्पदी छंद के होने की बात लिखी है, लेकिन भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य के लिए किसी निश्चित चरण आधारित विशेष छंद के बारे में नहीं लिखा गया है।

जो हो, डॉ. अमरेन्द्र के महाकाव्य में तो चरण-चरण पर चरण आधारित जिस छंद को प्रमुखता मिलती है, वह है चतुष्पदी छंद यानी चार चरणों का अनुबंध। सर्ग १, ४, ८, ११, १२, १३, १४, १५, १७, १८, २०, २१ चतुष्पदी छंदों के ही सर्ग

हैं।

संपूर्ण काव्य में अनुबंधों ही संख्या कुल एक हजार, तीन सौ साठ है, जिसमें षष्टपदी की संख्या अगर छः हैं, तो द्विपदी की संख्या पाँच। ये षटपदी या द्विपदी सर्ग के अंत में ही आये हैं, लेकिन अगला सर्ग उनसे आरंभ के लिए नहीं।

जिन सर्गों के अंत में षट्पदी छंद आये हैं, वे सर्ग हैं -२, ३, १०, १६, १९ और २२, जबकि सर्ग ५, ६, ७, ९, २३ अंत द्विपदी से होता है।

इस तरह सम्पूर्ण प्रबंध काव्य में चतुष्पदियों की संख्या एक हजार, तीन सौ, उनचास है।

अन्त्सानुप्रास के आधार पर भेद :

और अगर चरणों पर आधारित इन छंदों का अंत्यानुप्रास की दृष्टि से श्रेणीकरण किया जाय, तो इन्हें तीन वर्गों में रखा जायेगा। सबसे अधिक संख्या युग्मक अंत्यानुप्रास के छंदों का होगा, जिसमें छंद के पहले और दूसरे चरण तथा तीसरे-चौथे चरणों में समान अंत्यानुप्रास मिलते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

''१ रात की बेला सघन थी, पृथा चिंतित,
थी बहुत आश्वस्त लेकिन भय भी किंचित -
क्या हुआ जो लौटकर आया न प्रहरी
मन की शंका हो रही थी और गहरी''

—पृष्ठ ११

सर्ग १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९,१०, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १९, २२ और २३ सर्गों के छंद युग्मक अत्यानुप्रास के ही छंद हैं।

युग्मक अंत्यानुपास के बाद कर्ण महाकाव्य में दूरांतर अंत्यानुप्रास की ही प्रधानता है, जिसमें अर्द्ध सम यानी दूसरे और चौथे चरणों में तुक की समानता होती है, यथा :

चुप हुए धनवंतरी अधिरथ-वचन से,
जम गया हो रक्त सारा, शून्य-सी हो देह,
और फिर तो कंठ भीगा, नयन भीगे,
इस तरह कि कंठ में उतरा हुआ हो मेहं।

—पृष्ठ १८६

सर्ग ११, १८, और २१ के छंद दूरांतर अंत्यानुप्रास के ही छंद हैं।

अंत्यानुप्रास के इन दो प्रकारों से अलग प्रस्तुत प्रबंध काव्य में एक और प्रकार का तुक-विधान प्राप्त होता है, जो कवि का नूतन प्रयोग ही है। एक बातचीत के क्रम में डॉ. अमरेन्द्र ने तुक पर आधारित इस छंद का नाम 'अर्द्धनारीश्वर

अंत्यानुप्रास' बताया। इस प्रकार का छंद अपने प्रथम और दूसरे चरण में तुक से तो मुक्त है लेकिन तृतीय-चौथे चरण में यह तुकयुक्त है। प्रस्तुत प्रबंध का बीसवाँ सर्ग इसी अर्द्धनारीश्वर अंत्यानुप्रास से बंधे छंदों का सर्ग है। उदाहरण प्रस्तुत है :

है क्षितिज भी शांत, जैसे, भीष्म शर पर,
शीत की लहरें समर की सिसकियां हैं;
रक्त-गति अवरुद्ध दिक की हैं शिराएं,
पसलियां हैं पस्त, मूर्छित हैं हवाएं।

—पृष्ठ २०६

कवि काव्य में अंत्यानुप्रास को लेकर शुरू से लेकर आखिर तक बहुत सजग रहे हैं। चाहे तुक स्वर अक्षर—आ, ई, ऊ, ए को लेकर हो, या व्यंजन वर्ण को लेकर, कहीं भी चूक नहीं मिलती। देखें :

सुन केशव को धैर्य कर्ण का रुका हुआ बह आया,
जहाँ रुका था कथन-कृष्ण का, उसमें जोड़ लगाय—
''केशव कोई और कहे तो कहे, आप मत कहिए,
कहते हैं तो पांडव के कर्मों पर चुप न रहिए!

—पृष्ठ २३६

और ठीक इस अनुबंध के नीचे ही एक ऐसा भी अनुबंध है, जिसके तीसरे-चौथे चरणों में तुक की उपेक्षा है :

आप कहेंगे प्राणों की रक्षा में सब कुछ संभव,
समरभूमि में शोणित कीचड़ बन जाता है कंचन।

यहाँ समान भार के छंद 'सार' का तो ठीक-ठीव विधान है, लेकिन तुक की उपेक्षा है। मैंने इस कमी की ओर जब कवि का ध्यान खींचा, तो उन्होंने कहा, मैंने सर्ग को पर्व भी लिखा है, तो छंद पर भी संस्कृत की छाप छोड़ दी है। संस्कृत के छंदों में तुकों का कौन-सा मोह है। लय-भंग हो, तो कहिए।

हाँ, छंद तो मात्राओं की सुव्यवस्था और उसकी अबाध गति है, जिसकी साधना सामान्य बात नहीं। अपने 'आलाप-संलाप' लघु प्रबंध काव्य में इस कवि का ही कथन है :

लेकिन यह भी बात सही है, कविता कठिन विधा है
तुम इसमें मारोगे बाजी, मुझको यह दुविधा है
यगण-मगण फिर तगण-रगण का खेल बहुत मुश्किल है
जाने कब लय कहाँ भंग हो, प्रेमी का यह दिल है
धर लो कल की राह, पंचकल-द्विकल और चतुष्कल

प्राकृत के ही छन्द दिलाते वार्णिक वृत के सौ फल
साधो, जितना साध सको तुम जगण-भगण और कल को
कविता रचने से पहले तुम धरो छन्द के बल को
भावों को बहने दो गति में, छन्दतरी पर चढ़ कर
कवि का धर्म नहीं कुछ भी है पहले उससे बढ़ कर
इसी यान पर ठीक-ठाक से भाव सुरक्षित चलते
शोक, ओज, उत्साह, जुगुप्सा, रति को देखा मिलते ।

—आलाप-संलाप, पृष्ठ १०

और कर्ण महाकाव्य में छंद के उसी कठिन विधान को कवि ने किस कुशलता से साधा है, यह देखकर चमत्कृत हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है।

'मात्राओं के आधार पर प्राप्त कर्ण काव्य में छंद :

प्रस्तुत प्रबंध काव्य में मात्रिक वर्ग के जिन छंदों का विधान मिलता है, वे हैं—पीयूषनिर्झर, सार, दिगंबरी, गीतिका, रुपमाला, वीर, विधाता, सरसी, और रोला।

इन छंदों में पीयूषनिर्झर छंद का सर्वाधिक प्रयोग मिलता है। सर्ग १, ३, ४, १८, २० में इसी छंद का प्रयोग है।

पीयूष निर्झर :

जैसाकि डॉ. अमरेन्द्र का विचार है—हिन्दी के अधिकांश मात्रिक छंद अपने शारीरिक रूप से वार्णिक वृत ही हैं। इनकी यह मान्यता गलत भी नहीं। पीयूषनिर्झर वैसे तो इक्कीस मात्राओं का छंद है, लेकिन इसमें जिस सप्तकल की तीन आवृत्तियाँ होती हैं, इससे इसका वार्णिक रूप भी स्थिर हो जाता है। जनुष् पर्व का प्रथम छंद द्रष्टव्य है :

रात की बेला सघन भी, पृथा चिंतित,
थी बहुत आश्वस्त लेकिन भय भी किंचित—
''क्यों हुआ जो लौटकर आया न प्रहरी''
मन की शंका हो रही थी और गहरी।

—पृष्ठ ११

माधवमालती :

माधवमालती छंद का प्रयोग कर्ण महाकाव्य के सिर्फ द्वितीय सर्ग यानी प्रारब्ध पर्व में ही हुआ है। माधवभालती अट्ठाइस मात्राओं के योग से निर्मित होता

है। इस छंद में मात्राओं का क्रम उसी रूप में होता है, जिस रूप में पीयूषनिर्झर छंद में होता है। अगर पीयूष निर्झर के तीन सप्तकल में एक और सप्तकल जोड़ दिया जाय, तो माधवमालती का निर्माण हो जाता है। प्रारब्ध पर्व का प्रथम छंद उदाहरण रूप में प्रस्तुत है :

"देवता हे रश्मियों के, रश्मियों के देहधारी,
कौन हैं, क्या काम है, मुझसे हुई क्या भूल भारी ?
केश स्वर्णिम, भौंह स्वर्णिम, रोम स्वर्णिम,
रश्मियों-सी मूँछ- दाढ़ी, देह, जैसे, व्योम स्वर्णिम!"

सार :

सार अट्ठाइस मात्राओं का मात्रिक वृत है, यानी सात चतुष्कल से निर्मित जिसके अंत में दो गुरु या एक गुरु-दो लघु अथवा दो लघु और एक गुरु, कुछ भी हो सकता है। कर्ण महाकाव्य के सर्ग ५, ६, १२, १४ और सर्ग २२ में इसी छंद का विधान है। उदाहरण प्रस्तुत है :

"अहो! अचानक अंगभूप, क्यों आना हुआ यहाँ पर
आ पाते हैं सिर्फ पवन ही, खग ही, मेघ यहाँ पर!
तपियों का यह स्वर्ग, धरा पर निधि-सा मंद्राचल है,
मोक्ष-मुक्ति का धाम, स्वर्ग का खिलता नील कमल है।"

—पृष्ठ ४४

दिगंबरी :

दिगंबरी भी कर्ण काव्य के कवि का प्रिय छंद है। महाकाव्य के सातवें, तेरहवें और इक्कीसवें सर्ग में इसी छंद का प्रयोग है ।

दिगंबरी का निर्माण विधाता छंद के अंतिम एक गुरु को हटा देने से होता है। दिगंबरी छंद में मात्राओं का क्रम इस प्रकार होता है, ISS, SISS, SISS, SISS देखें :

हृदय अब भी उदासी से भरा-सा कर्ण का है,
गगन से चोट खाकर चाँद धरती पर गिरा है;
विभा से फूटती है कालिमा-कालिख, उजागर,
बहुत गुमसुम, विरल नद-सा दिखाता सिंधु सागर।

—पृष्ठ ६४

विधाता :

जैसा कि ऊपर कहा गया, कि विधाता के अंतिम गुरु को हटा लेने से

दिगंबरी छंद बनता है, तो स्पष्ट है कि विधाता में मात्राओं के चार सप्तकल ।s s s के क्रम से आते है। प्रस्तुत प्रबंध का ग्यारहवां सर्ग डसी छंद में सृजित है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

खुली हैं कर्ण की आंखें, निकट के दृश्य ओझल हैं,
अगोचर, जो नजर से दूर हैं, वे स्वप्न कल्पित
किसी की है प्रतीक्षा में, नहीं इसकी भी सुध है कुछ,
बहुत ही दूर चंपा से सभी कुछ दृष्टि में शिल्पित।

—पृष्ठ ६८

गीतिका :

गीतिका छब्बीस मात्राओं का छंद है जो गुरु, लघु, गुरु, गुरु आधार वाले तीन सप्तकल और एक पंचकल से निर्मित होता है। पंचकल का आधार ऽ।ऽ होता है। कर्ण महाकाव्य का आठवां सर्ग गीतिका छंद में ही सृजित है। एक उदाहरण नीचे है :

पक्ष बीते, मास बीते, वर्ष बीते काल के
पर नहीं धूमिल कहीं कुछ मन-हृदय महिपाल के,
दीठि में अब भी चंचल रूप की वे रश्मियां,
स्वर्ण के प्रासाद पर वे कौमुदी की उर्मियां ।

—पृष्ठ ७४

रूपमाला :

प्रस्तुत प्रबंध में गीतिका से अधिक रूपमाला मात्रिक छंद का प्रयोग हुआ है। रूपमाला भी गीतिका-वर्ग का ही छंद है। अगर गीतिका के अंतिम पंचकल के गुरु को हटा दिया जाय, तो रुपमाला का निर्माण होता है। प्रस्तुत प्रबंध के नौवें, पन्द्रहवें, तेईसवें सर्ग में इसी की प्रधानता है। सर्ग नौ का एक छंद द्रष्टव्य है :

''आज तक देखा न था, कैसे छिपा था, नाथ,
मेघवन भी दस वनों में है, न जानी बात,
कब बताया, है मलयवन बाँसवन के पास,
मैं कहाँ थी जानती यह सुरभियों का रास!

—पृष्ठ ८२

वीर :

वीर छंद आधुनिक हिन्दी काव्य का लोकप्रिय छंद रहा है। प्रसाद की कामायनी के प्रथम सर्ग का आरंभ इसी छंद से होता है। डॉ. अमरेन्द्र के इस महाकाव्य में यह छंद दशवें सर्ग के निर्माण में आया है। वीर छंद चौपाई और चौपई

मात्रिक छंदों का योग है। चौपाई के अंतिम गुरु को लघु कर देने से चौपई छंद का निर्माण हो जाता है। यति सोलह और पन्द्रह मात्राओं पर होती है। देखें :

अमा निशा की घोर तमस है फैली हुई सभी ही ओर,
श्यामा के चरणों के नीचे दबा हुआ है श्यामल भोर।
कभी-कभी बस दूर कहीं पर टिटही की उठती चित्कार
जिससे करवट लेता रहता जमा हुआ तम का संसार।

—पृष्ठ ६१

सरसी :

वीर छंद की तरह सताइस मायाओं वाला सरसी छंद भी हिन्दी में काफी लोकप्रिय रहा है। इसका निर्माण चौपाई और अहीर छंद के योग से होता है। तीन चतुष्कल के अंतिम गुरु को लघु कर देने से अहीर छंद का निर्माण होता है। कर्ण महाकाव्य के सोलहवें और उन्नीसवें सर्गों का निर्माण इसी छंद में हुआ है :

गंगा का तट, गंगा का वन, शीतल, मंद समीर,
पुनरनवीं के साथ कर्ण है, फिर भी हृदय अधीर,
किस चिंता में रह-रह कर मन दिखता कभी उदास,
श्री से सुंदर पुनरनवी जब बैठी उसके पास!

—पृष्ठ १५४

रोला :

और प्रस्तुत महाकाव्य का सत्रहवां सर्ग रोला छंद में बंधा हुआ है। रोला चौबीस मात्राओं का मात्रिक छंद है जिसके अंत में दो गुरु अथवा एक गुरु; दो लघु या दो लघु-एक गुरु का विधान होता है। प्रस्तुत महाकाव्य में भी इसी नियम का विधान है। यथा :

पुनरनवी, क्यों मन करता है पत्र लिखूं मैं,
वैसा ही, हर शब्द-शब्द में साफ दिखूँ मैं,
नहीं चाहता, कुछ भी आज छिपाना तुमसे,
निश्चल मन का भाव-निवेदन जाना तुमसे।

—पृष्ठ १६७

यूं तो कर्ण महाकाव्य का प्रत्येक सर्ग एक ही छंद में सृजित है, लेकिन काव्य का अंतिम 'पंचता' पर्व रूपमाला और माधवमालती छंदों से बंधा है, ऐसा इसलिए कि यहाँ रानी वृषाली और दूत के संवादों में अंतर लाया जा सके। लेकिन एक ही सर्ग में दो छंदों के विधान से गति में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती, क्यों कि रुपमाला और माधवमालती एक ही वर्ग के छंद हैं। माधवभालती में रूपमाला

का अंतिम लघु वर्ण गुरु हो जाता है, बस इतना ही दोनों में अंतर है।

आखिर में कर्ण महाकाव्य में छंद-विधान के एक विशिष्ट कौशल पर भी बात करना जरूरी होगा और यह है—अंत्यानुप्रासोपरांत अपरिवर्तनशील पद या वाक्यांश की आवृत्ति। हिन्दी में इसे किस नाम से पुकारा जाय, इस पर अभी तक नहीं सोचा गया है लेकिन उर्दू में इसे रदीफ के नाम से जाना जाता है। वैसे भी हिन्दी काव्य में तुक की ही प्रधानता मिलती है, रदीफ के सौन्दर्य की ओर कवियों का ध्यान कम ही होता है।

डॉ. अमरेन्द्र हिन्दी के साथ-साथ उर्दू में भी कविता कहते रहे हैं, इसी से इनकी कविताओं में रदीफ अपनी पूरी सजावट के साथ विद्यमान है। वैसे यहाँ यह बता देना भी जरूरी है कि रदीफ के साथ काव्यसृजन संस्कृत में कोई नई बात नहीं। कवि अमरेन्द्र ने दुर्गासप्तशती में इसकी खूबसूरत उपस्थिति दिखाई है। जो हो हिन्दी तक आते-आते वह परिपाटी शिथिल ही मिलती है। डॉ. अमरेन्द्र ने अपने प्रस्तुत महाकाव्य में रदीफ के सहयोग से छंद में अद्भुत सौन्दर्य को उपस्थित कर दिया है। इनके छंद विधान में यह रदीफ व्यवस्था कहीं-कहीं तो लगातार चलती रहती है—सर्ग के आरंभ से अंतिम तक। पंचता पर्व में रदीफ का यह सौन्दर्य देखते ही बनता है :

'चेतना पर छा रही कैसी तो छाया, माधवन,
और उसमें खो रही आभा की माया माधवन;
फिर विगत का स्वप्न वह साकार सम्मुख, माधवन,
श्वेत सारस था सरोवर में खड़ा झुक, माधवन ।
'आ गया था एक विषधर तैरता झट, वेग से
पाँव जबड़े में फँसा, तो पंख फट-फट, वेग से;
'पर कहाँ वह उड़ सका था, डूबता-सा दिख रहा,
ज्यों बड़ा-सा शंख जल पर तैरता-सा दिख रहा ।
'चाहता अहि था लपेटे और निगले किस तरह,
और सारस ताक में बाहर तो निकले, किस तरह,
व्याल था कि पाँव को जकड़े हुए था, शक्ति भर,
राहु जैसे चाँद को पकड़े हुए था, शक्ति भर ।
'रास्ता बचने का जैसे न बचा हो, अब कहीं,
मृत्यु ने ही व्यूह यह जैसे रचा हो, अब कहीं;
चाहता सारस विपद का अंत कोई, जल्द ही
और आखिर जग गई थी शक्ति सोई, जल्द ही ।
'चोंच से करने लगा था वार, सारस इस तरह,

सिद्ध आखिर में हुआ वह कर्म पारस इस तरह।''

—पृष्ठ २५०

प्रस्तुत प्रबंध काव्य में रदीफ-तीन रूपों में प्राप्त है। एक तो बड़े आकार की रदीफ, मँझले आकार की रदीफ और छोटे आकार की रदीफ।

चूंकि प्रस्तुत महाकाव्य में जो भी छंद आये हैं, वे साधारण वर्ग के हैं, दंडक वर्ग के नहीं यानी बत्तीस से अधिक मात्राओं के नहीं हैं, इसी से कवि ने बडी रदीफ को स्थान भी नहीं दिया है। मध्यम और छोटे आकार की रदीफों की व्यवस्था तो प्रबंध के आरंभ से लेकर अंत तक फैली हुई है। देखें :

मन यही करता, निकल जाए भवन से,
चाँद जैसे निकल पड़ता श्याम घन से।
कर यही निश्चम पृथा ने गगन देखा,
नील नभ पर रश्मियों को मगन देखा।

—पृष्ठ ११

इसलिए कि कुछ नहीं संचय किया है, यह भी सच
जो मिला था दान में, सब कुछ दिया है, यह भी सच

—पृष्ठ २५२

'देखा' और 'है यह भी सच'—अत्यानुप्रास भवन-घन, गगन- मगन तथा किया-दिया के बाद आई छोटे और मंझोले आकार की रदीफ ही हैं। रदीफ का अर्थ ही होता है, जिसके रूप-स्थिति में किसी भी स्थिति में कोई परिवर्तन न हो।

कथावस्तु : आरोप और उत्तर

अपनी कसौटी पर कोई भी कृति चाहे जितनी भी श्रेष्ठ हो, आरोप तो उन पर भी लगे हैं, 'कामायनी' तक इससे अछूती नहीं रही, तो अमरेन्द्र का 'कर्ण' इससे अछूता कैसे रहता। इस पर सबसे पहले डॉ. किशोर सिंह ने एक प्रश्न उठाया था, हालांकि उन्होंने उत्तर भी प्रकारान्त से दे दिया है।

कर्ण महाकाव्य में कर्ण से संबंधित कीट दंश के प्रमुख प्रकरण को कथा से अलग रखने की कमी की ओर कई आलोचकों ने इशारा किया है, इसमें डॉ. किशोर सिन्हा का नाम भी प्रमुखता से लिया जलेगा। डॉ. सिन्हा ने लिखा है कि, ''कर्ण' काव्य का 'प्रज्ञा पर्व' एक विशेष खंड है जो महाभारत की मूल कथा से थोड़ा हटकर है। इस खंड में आई कथा, महाभारत के साथ-साथ अनेक प्रबंध- रचनाओं का मुख्य आधार बनी है। ये कथा है कर्ण का परशुराम से अपना परिचय छिपा कर शिक्षा प्राप्त करना और भेद खुलने पर परशुराम द्वारा कर्ण को श्राप दिया जाना। निस्संदेह इस श्राप की बहुत बड़ी भूमिका थी, जिसके कारण कर्ण अंत समय में अपना बचाव नहीं कर पाया; क्योंकि श्राप के कारण वह गुरु द्वारा प्रदत्त सारी शिक्षा भूल चुका था।''

फिर आलोचक ने आगे लिखा है :

''आश्चर्यजनक रूप से इस सर्ग में कवि ने कर्ण की पहचान छिपाने का कोई प्रयास नहीं किया। एक तो इसमें अधिरथ को अंग-प्रदेश का नृप बताया गया है, जबकि वह सारथी-मात्र था। दूसरे, अधिरथ ने भी कर्ण का परिचय देते हुए उसे क्षत्रिय ही कहा–

''वेदों का ही नहीं, अस्त्र का मेरा सुत हो ज्ञाता,
निज भविष्य और बाहु-भाग्य का अब से बने विधाता!

क्षत्रिय है तो क्षात्र-धर्म भी इसमें दिखे अनल-सा,
दान-दया के साथ-साथ ही हो शरदेन्दु विमल-सा।''

इसी प्रकार परशुराम भी उसे 'क्षत्रिय-पूत' कहकर संबोधित करते हैं—

''इसी परशु का भय दिखलाकर बल का शमन किया है,
ज्ञान और भय दोनों से धरती को त्राण दिया है।'

फिर कहते हैं :

'कर्ण एक तुम क्षत्रिय पूत अमल हो,
और विप्र के श्रेष्ठ गुणों से उज्ज्वल-शुभ्र-धवल हो।''

यदि एक स्थान पर ऐसा होता तो मुझे लगता कवि की तरफ़ से तथ्यात्मक भूल हुई है; पर दो-दो स्थानों पर कर्ण को 'क्षत्रिय' घोषित करना, विशेषकर स्वयं परशुराम द्वारा—कवि से स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है; जबकि महाभारत में ये स्थापित तथ्य है कि जिस क्षण परशुराम को ये ज्ञात हुआ कि कर्ण ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय है, उसी क्षण उन्होंने श्राप देकर कर्ण का त्याग कर दिया था। कीड़ा काटने वाले प्रसंग में भी परशुराम का वह क्रोध नहीं दिखता, जिसके लिये वे प्रसिद्ध थे, बल्कि उनके क्रोध की अग्नि यहाँ तरल और शीतल हो गई है।'' (कर्ण महाकाव्य : संवेदना और रूप-शिल्प, पृ. १८१-८२)

तो, इसका उत्तर हमें प्रस्तुत महाकाव्य परशुराम के कथन से ही मिल जाता है जहाँ वह कहते हैं कि मुझसे कुछ भी अज्ञात नहीं :

''सुन कर सारी बातें बोले मुनिवर अमृत स्वर में,
वीणा के कुछ तार हिले हों, जैसे कि अंबर में—
''जो कुछ कहा सत्य है, इसमें कुछ भी झूठ नहीं है,
हे अंगेश, दृष्टि से मेरी कुछ क्या छिपा कहीं है ?

—पृष्ठ ४५

अज्ञात रह भी कैसे सकता, वह तो अंगप्रदेश के ही ऋषि थे। इस संबंध में 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित डॉ अमरेन्द्र के इस आलेख को रखना जरूरी है :

''इतिहासकार हरिशंकर श्रीवास्तव 'शलभ' ने ऋषि ऋष्यश्रृंग के जीवन पर प्रकाश डालते हुए अपनी कृति 'मंत्रद्रष्टा ऋष्यश्रृंग' में पुराणकारों के उन व्यवहारों को उत्तर वैदिक काल का षडयंत्र कहा है, जिसके कारण पुत्रेष्ठि यज्ञ में यज्ञपुरोधा ऋष्यश्रृंग का नामोल्लेख तक 'हरिवंश पुराण' में नही हुआ । यहाँ पुत्रेष्ठि यज्ञ के सैकड़ों मंत्रों का तो उल्लेख है, लेकिन मंत्र के ज्ञाता के लिए सिर्फ 'ऋषि उचाव' कह कर पुराणकार चुप हो गया है । अंगप्रदेश की दिव्य संस्कृतियों की उपेक्षा उत्तर वैदिक काल में ही नहीं हुई, इसकी उपेक्षा तो वैदिक काल से प्रारम्भ हो गई

थी । यहाँ यह बता देना जरूरी होगा कि कुछ विद्वान के अनुसार पुत्रेष्ठियज्ञ के प्रथम पुरोधा ज्ञाता ऋष्यश्रृंग का जन्म अंगप्रदेश के उत्तरी भाग में हुआ था, जो महाभारतकाल में चम्पकारण्य और बुद्धकाल में अंगुत्तराप कहा जाता रहा । हालांकि स्थान संबंधी जानकारी सही नहीं है । जो हो ।

अंगप्रदेश के इसी उत्तरी हिस्से में बहने वाली नदी कोशी के किनारे बैठकर महर्षि विश्वमित्र ने सहस्त्रों वर्ष तक कठिन तपस्या की थी, जिससे ब्रह्माड हिल उठा था । कोशी विश्वमित्र की बहन है और कोशी अंगप्रदेश की पौराणिक पवित्र नदियों में प्रमुख, इससे विश्वमित्र का अंगप्रदेश से संबंध के बारे में सहज ही जाना जा सकता है ।

कोशी नदी के संबंध में जो भागवत कथा उपलब्ध है, उसका उल्लेख भी यहाँ अनिवार्य है, क्योंकि यह कथा सीधे परशुराम की जीवनकथा से भी जुड़ी हुई है । महर्षि जह्नु, जिन्होंने गंगा का पान कर लिया था और कि जो अंग के ऋषि थे, उनकी पाँचवी पीढ़ी में कुशम्बु के बेटे महाराज गाधि हुये थे। महाराज गाधि की ही पुत्री थी सत्यवती । जब महर्षि ऋचीक ने गाधि से उनकी पुत्री की मांग की, तो गाधि ने शादी के लिए एक शर्त रख दी, एक हजार सफेद घोड़े देने की, जिसके एक-एक कान काले हों । ऋचीक जी वरुण देवता के पास गये और उनसे वैसे ही एक हजार घोड़े प्राप्त कर महर्षि गाधि को भेंट किया। विवश होकर गाधि को अपनी पुत्री सत्यवती उन्हें देनी पड़ी । एक बार की बात है, सत्यवती और उसकी माँ ने एक ही समय पर अलग-अलग पुत्रों की आकांक्षा व्यक्त की । ऋचीक ने दोनों के लिए ही खीर तैयार की, लेकिन शंका के कारण माँ ने बेटी वाली खीर ही बेटी से मांग कर खा ली । अब जब ऋचीक को यह मालूम हुआ, तो वह दुखित हुए, क्योंकि माँ के लिए जो खीर बनी थी, वह कुछ भिन्न थी, ऋषि ने बताया कि अब सत्यवती ऐसे पुत्र को जन्म देगी, जो क्रूर प्रवृति का होगा । सत्यवती टूटने लगी, तो ऋषि ने कहा कि तुम्हारा जो पौत्र होगा वह अगिया वैताल होगा । इसी वरदान के कारण सत्यवती की कोख से जमदाग्नि हुये जो महर्षि परशुराम के पिता थे । जमदाग्नि के जन्म के साथ ही सत्यवती कोशी बन कर बह गई ।

अगर हम सत्यवती के कोशी नदी बन कर बहने के मिथ का रूपक अर्थ ग्रहण करें, तो यह बात जाहिर होने लगेगी कि महर्षि ऋचिक, महर्षि जमदाग्नि, महर्षि परशुराम का जन्मस्थान अंग जनपद ही था, सिर्फ परशुराम के पुर्वज जह्नु ही अंग जनपद के नहीं थे ।

और सिर्फ यही नहीं कि परशुराम की जन्मभूमि यह अंगप्रदेश है, बल्कि उग्र स्वभाव के लिए ख्यात महर्षि दुर्वासा की जन्मभूमि भी यही अंगप्रदेश है । यह

इसलिए नहीं कि दुर्वासा के अंगवासी होने ही घोषणा 'जर्नल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' का पृष्ठ दस करता है, बल्कि प्राचीन कथाओं पर गंभीरता से विचार करें, तो इतिहास के बहुत सारे द्वार खुलते जायेंगे, जिस पर कुछ इतिहासकारों ने झाड़-झंखाड़ उगा रखा है।

(हिन्दुस्तान : २८ जून २००७)

और फिर यही बात इस प्रबंध का कर्ण भी कहता है :

> ''कौलगंग को छोड़ यहाँ पर क्यों आए हैं गुरुवर,
> सचमुच में मंदार धरा पर फैला स्वर्ग मनोहर। —पृष्ठ ५०
> तब कीट के काटने, कर्ण के क्षत्रिय होने का पता न रहना
> अविश्वसनीय ही है; इसी से बहुत सोच-समझ कर कर्ण प्रबंध के
> कवि ने इस प्रकरण को ही काव्य में हटा दिया है।

दूसरे, अन्य मुख्य आरोप डॉ. शतदल मंजरी के हैं।

कर्ण महाकाव्य के महानायक कर्ण के चरित्र पर प्रश्न खड़ा करते डॉ शतदल मंजरी ने कर्ण के व्यक्तित्व की तीन कमजोरियों की ओर ही संकेत करते हुए दरअस्ल चरित्र-विधान में फिसलन के विन्दु की ओर संकेत किया है। इन्होंने लिखा है कि डॉ अमरेंद्र का कर्ण अगर पुरुषार्थी है, तो भाग्यवादी-नियतिवादी कैसे हो जाता है और इसके लिए डॉ. मंजरी ने अनेक स्थलों का उल्लेख भी किया है।

नियतिवादी होते के साथ इनका यह भी आरोप है कि कर्ण हठी है।

तीसरा आरोप यह है कि कर्ण के विचार और क्रिया में एकरूपता नहीं।

डॉ. शतदल मंजरी के इन आरोपों से अलग मुझे भी एक प्रश्न कर्ण काव्य को पढ़ने के क्रम में परेशान करता रहा कि जहाँ तक महाकाव्य में नगर, वन, नदी, वर्णन की बात है, वह तो कर्ण काव्य में आरंभ से ही दिखता है, खास कर इसके प्रथम सर्ग में ही लेकिन इस प्रबंध के मुख्य नायक के ही मुख से रह-रह कर अंगप्रदेश की महिमा का उल्लेख क्या नीरसता को जन्म नहीं देता ?

मैंने इन सभी आरोपों को जब एक बातचीत के क्रम में डॉ अमरेन्द्र के समक्ष रखा था, तो उन्होंने जो कुछ भी कहा, वह कुछ इस प्रकार है :

कर्ण सांख्य का पुरुष नहीं है, जो गुणों से मुक्त हो, वह तो लोक का वह महानायक है जो गुणों के कारण नर रूप में दिखता है। कोई कृति का नायक या पात्र तभी पाठक के चित्त को अपनी ओर खींच सकता है, जब उसमें मनुष्य की खूबियाँ, खामियाँ सब निहित हों। अगर आप अपने नायक से सारी कमजोरियों को खींचकर बाहर निकाल लेते हैं और उसे सांख्य का गुणरहित पुरुष के रूप में उपस्थित कर देते हैं, तो पाठकों के लिए आकर्षण ही क्या रह जायेगा!

मनुष्य अपने कर्मों से चाहे जितना भी पुरुषार्थी दिखे लेकिन वह अपने पूर्वजों के संस्कारों से बिल्कुल कट जायेगा, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। गुणसूत्र की बात तो मनोविज्ञान भी स्वीकारता है। कर्ण नियत्ति की बात करता है, तो वह परंपरा से जुड़ता है और पुरुषार्थ की बात करता है तो यह उसका अर्जित संस्कार है। यह चरित्र का विरोध नहीं, मनोविज्ञान का तथ्य है जो मेरे प्रबंध के नायक में दिखता है और फिर हमें भूलना नहीं चाहिए कि किसी शब्द या शब्द समूह का अर्थ वहीं नहीं होता, जो आप समझ रहे हैं—यह उस पात्र की विशेष मानसिक अवस्था को भी प्रकट करते हैं, जो तात्कालिक होती हैं।

आरोप है कर्ण हठी है—अगर है तो मैं क्या करूँ। महाभारत से मुझे कर्ण ऐसा ही मिला है और आप सोचिए कि अगर ऐसा नहीं होता और वह माता कुंती की सलाह मान लेता, तो कृष्ण के विराट रूप का क्या होता, तब गीता का ज्ञान ही कहाँ उतरता, तब महाभारत का कैसा लुंज-पुंज ढाँचा हमारे सामने होता!

और जहाँ तक यह आरोप कि कर्ण में विचार और क्रिया की एकता का नहीं दिखाई देना है—कर्ण युद्ध की विभीषिका को समझता तो है लेकिन युद्ध के लिए उद्धत भी दिखता है, तो मुझे लगता है कि अमरेन्द्र के कर्ण को दोबारा देखने-समझने की जरूरत थी।

इसके उत्तर में डॉ. अमरेन्द्र ने कहा था कि, मेरा कर्ण स्त्री के प्रति कोई हीन विचार रखनेवाला नहीं है और अपनी माँ कुंती के प्रति तो किसी भी तरह नहीं, बल्कि यहाँ कर्ण माँ की स्मृति भर से भीगता रहता है। अगर प्रबंध के प्राणदान पर्व और कूटनीति पर्व को ठीक से देखें, तो बहुत कुछ समझ में आ जायेगा कि कर्ण युद्ध क्यों चाहता है, क्योंकि यही माता कुंती की भी इच्छा है कि अर्जुन युद्ध करके राज्य हासिल करे, क्योंकि यह क्षत्रिय के अनुकूल कार्य है, फिर सोरी घर में ही, जब पार्थ का जन्म हुआ था, कुंती ने ईश्वर से यही तो वर माँगा था कि उराका अर्जुन चक्रवती राजा हो। इसके लिए तो युद्ध अनिवार्य ही था। ये सारी बातें काव्य में कर्ण ने अपने पिता सूर्य से जानी हैं और अगर युद्ध की भयावहता को जानते हुए भी कर्ण युद्ध की बात करता है, तो माँ की इच्छा रखने के लिए भी। फिर अर्जुन तो पर्यावरण और वनवासियों का हत्यारा है और कर्ण पर्यावरण के साथ-साथ वनवासियों के प्रति गहरी संवेदना रखनेवाला। युद्ध के लिए कोई ठोस कारण तो होना ही चाहिए न। अब यहाँ से आप देखें, तो ऐसा नहीं लगेगा कि कर्ण अपने विचार और क्रिया को लेकर फटे व्यक्तित्व का चरित्र है। कूटनीति पर्व में कर्ण और भी स्पष्ट करता है कि सेना को संगठित करने का कार्य पहले दुयोधन की ओर से नही, पांडवो पक्ष की ओर से हुआ था। वह कवच-कुंडल दे रहा है, तो माँ की इच्छा रखने के लिए।

आखिर में मेरी नीरसता वाली बात पर उन्होंने कहा—अब जो चौथी आपत्ति है कि कर्ण के मुँह से रह-रह चंपा या अंग देश के गौरव का उल्लेख नीरसता को जन्म देता है। हो सकता है, मैं इससे इनकार नहीं करता। काव्य में ऐसा होता गया, तो इसका कुछ कारण तो होगा ही। अंग, जो भूगोल की दृष्टि से अति प्राचीन है, एक तरह से पृथ्वी के जन्म की कथा यहीं से शुरू होती है, जिसका नामकरण भी ऋगवेद काल में हो चुका था, यह इतिहाकार आर. के. चौधरी भी मानते हैं—जहाँ अष्टावक्र जैसे ऋषि हुए, जो विदेह के पंडितों को ज्ञान में परास्त करते हैं; ऋषि शृंग भी चम्पा के ही थे, जिन्होने अवध के राजा दशरथ के लिए पुत्रेष्ठि यज्ञ किया था, तो दशरथ को पुत्रों की प्राप्ति हुई। द्वापर में कर्ण ने दिग्विजय के क्रम में उत्तर में शक्तिशाली विदेह को पराजित किया जो अंग का राजा था और उसी अंग के संबंध में अगर अथर्वेद में यह लिखा मिले कि हे रोग, तुम अंग प्रदेश चले जाओ, तब पहले तो यही लगता है कि किसी ने द्वेषवश ऐसे कथन को बाद में जोड़ दिया है। हो सकता है अंग देश के पराक्रम और ज्ञान के कारण कुछ निन्दक इसके विरोधी भी हो गये हों। आज भी अंग प्रदेश के बारे में ओछी बातें अंगिका विरोधी के मुँह पर होती हैं। कर्ण जब बार-बार अंग या चंपा की श्रेष्ठता की बात कह उठता है, तो लगता है कि यह चम्पा के बिरोधियो को ही समझाना है। हो भी सकता है कि मेरा ही मन कर्ण के मुँह के बोल जाता हो। ऐसे में वह नीरस भी लगे, तो लगे।

और जब डॉ अमरेन्द्र ऐसा बोल रहे थे तब मुझे डॉ. किशोर सिन्हा की वे बातें याद आ गईं जो उन्होंने अपने लेख में लिखा है : ''ये स्वप्न-दुःस्वप्न डॉ. अमरेन्द्र के, खुद के भी हैं। कर्ण के ऊपर के घात-प्रतिघातों, उसकी उपेक्षा और अपमान, उसकी अन्तर्वेदना, उसकी कमज़ोरियां, उसका पश्चाताप, उसका दुख, उसकी करुणा—सब उसी प्रकार, जिस प्रकार निराला में। कर्ण के मन का जो अंधेरा है, वही निराला के राम का 'नैशान्धकार' है; जो राम को चारों ओर से व्याप्त किए है। आशा के तारे कहीं हैं भी, तो बहुत दूर...।''

—कर्ण महाकाव्य : संवेदना और रूप-शिल्प, पृष्ठ १८८

कर्ण पर केन्द्रित आधुनिक महाकाव्य

यूँ तो महापराक्रमी कर्ण पर आधुनिक हिन्दी साहित्य में अनेक काव्य कृतियों का सृजन हुआ जो खंडकाव्य के रूप में भी हैं और महाकाव्योन्मुख रूप में भी। लेकिन महाकाव्य रूप में तीन ही कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, ये हैं :

(१) अंगराज

(२) पुरुषार्थ की पराजय

(३) कर्ण

इन तीनों महाकाव्यों में अंगराज सर्वाधिक वृहत काव्य है जो महाकवि आनन्दकुमार द्वारा रचित है। हस महाकाव्य के संबंध में निर्मला जैन ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी काव्य : रूप और संरचना' में सार रूप में लिखा है कि–

(१) अंगराज का कथानक ऐतिहासिक है

(२) इसमें कर्ण के जन्म से लेकर पांडवों के स्वर्गारोहण तक की कथा है

(३) घटनाओं का उल्लेख विशाल फलक पर है।

(४) महाकाव्य में विस्तार है, गहराई नहीं, क्योंकि घटनाओं की रंगस्थली बहिर्जगत है, अन्तर्मन नहीं।

(५) अनेक बार महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख भर करके चलता कर दिया है।

(६) कई सर्गों में अनावश्यक वर्णन विस्तार है। युद्ध के अस्त्रों और प्रकृति वर्णन में यह प्रवृत्ति विशेष सक्रिय।

(७) द्विवेदीकालीन महाकाव्य होने के कारण इतिवृत्तात्मक शैली का होना तो स्वाभाविक है।

अब डॉ. अमरेन्द्र के कर्ण महाकाव्य पर बात करें, तो मैं पुनः डॉ.

रमेशकुंतल मेघ की इन पंक्तियां को रखना चाहूँगी :

''.....'कर्ण' काव्य मिल गया है, इसे देखने के बाद मैं कुछ बातें कहना चाह रहा हूँ, इसे सुनिए ! हिंदी में बहुत वर्षों के बाद एक सार्थक और सही पात्र पर लिखा गया महाकाव्य आया है । इस प्रबन्ध में कृष्ण की बातें नहीं हैं, अर्जुन की बातें नहीं हैं, भीष्म की बातें नहीं हैं, सिर्फ कर्ण की बातें हैं, और यह बहुत ही उल्लेखनीय बात है । फिर मुझे यह कहते हुए बहुत अच्छा लग रहा है कि कर्ण काव्य की भाषा बहुत सधी हुई है, जो इस काव्य की गरिमा को और भी स्थिर करती है ।''

कर्ण महाकाव्य कर्ण पर केन्द्रित है, इसी से यहाँ अनावश्यक विस्तार नहीं। किसी प्रमुख घटना पर ही क्या, छोटे से प्रकरण पर भी पूरा प्रकाश है।

न अस्त्रों का लंबा विवरण है, न प्रकृति-चित्रण का अनावश्यक मोह। अभिव्यंजना कौशल को लेकर तो डॉ. अमरेन्द्र का महाकाव्य निःसंदेह अनुपम है!

'पौरुष की पराजय' बारह सर्गों में विभाजित डॉ. गौरी शंकर मिश्र द्विजेन्द्र का महाकाव्य है, जो प्रकाशित तो बहुत बाद में हुआ, लेकिन इसका रचना कार्य १९८१ में ही पूरा हो गया था।

यह महाकाव्य भी महाभारत की घटनाओं पर ही आधारित है। यहाँ वैसा कुछ भी नहीं जैसा डॉ. अमरेन्द्र के कर्ण महाकाव्य में मिलता है। कवि अमरेन्द्र के महाकाव्य में न तो प्रकरणों की कमी है, न खाली स्थलों को भरने में कोई कमी। द्विजेन्द्र जी के काव्य में कर्ण की रानी की भी विचित्र स्थिति है। कर्ण युद्धभूमि में जानेवाला है, और रानी तलवार और धनुष को लेकर हँसी-ठट्ठा कर रही है। यहाँ न अमरेन्द्र के महाकाव्य वाले सेनापति कर्ण के सेनापतित्व का वह भव्य चित्रण है, न उसकी रानियों का ही यहाँ वह व्यक्तित्व।

भले ही छंदशास्त्र के विद्वान होने के कारण छंदों की विविधता यहाँ दिख जाए, लेकिन प्रबन्ध की वह वक्रता नहीं मिलती, जो डॉ. अमरेन्द्र के काव्य में है। इसका एक प्रमुख कारण तो यह भी हो सकता है कि महाकवि द्विजेन्द्र का काव्य लक्ष्य सिर्फ कर्ण कथा की पुनर्रचना नहीं, इसकी आड़ में पुरुषार्थ और नियति में कौन शक्तिशाली है, यह बताना भी है जिसमें नियति आखिर में जीत जाती है। इसे महाकवि ने काव्य के आरंभ में भी स्पष्ट किया है। इस सत्य को बताने के क्रम में अगर कर्ण का पुरुषार्थ हार गया है, तो आश्चर्य क्या। डॉ. अमरेन्द्र के महाकाव्य में यह समस्या नहीं, इसी से इनका कर्ण इतना विराट बन पड़ा है।

■■

सहायक संदर्भ ग्रंथ

(१) कर्ण–डॉ. अमरेन्द्र
(२) कर्ण महाकाव्य : संवेदना और रूप शिल्प–संपादक : डॉ. आभा पूर्वे
(३) कर्ण महाकाव्य का अन्तर्लोक–कश्मीरा सिंह
(४) कर्ण महाकाव्य : भाव , भाषा और विधान–डॉ. शतदल मंजरी
(५) डॉ. अमरेन्द्र : साहित्य और समीक्षा(शोध-प्रबंध)–डॉ. श्वेता रानी
(६) अरस्तु का काव्यशास्त्र–डॉ. नगेन्द्र
(७) काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्व–आचार्य शिवबालक राय
(८) सौन्दर्य शास्त्र के तत्व–डॉ. कुमार विमल
(९) आधुनिक हिन्दी काव्य : रूप और संरचना–निर्मला जैन
(१०) छंदोदर्पण–डॉ. गौरी शंकर मिश्र द्विजेन्द्र
(११) गजल की बाबत–वीनस केसरी
(१२) अमृत देश : अंग प्रदेश–डॉ. अमरेन्द्र
(१३) आलाप संलाप–डॉ. अमरेन्द्र
(१४) मन गोकुल का गाँव–डॉ. अमरेन्द्र
(१५) पौरुष की पराजय–डॉ. गौरी शंकर मिश्र द्रिजेन्द्र
(१६) परिवार एवं पार्यावरण–हरिशचंद्र व्यास/कैलाशचंद्र व्यास
(१७) कौटिलीय अर्थशास्त्रम्
(१८) डॉ. अमरेन्द्र के काव्य का मीमांसात्मक अध्ययन (शोध-प्रबंध)–डॉ. जनार्दन यादव
(१९) डॉ. अमरेन्द्र के काव्य में समकालीन यथार्थ (शोध-प्रबंध)–डॉ. ब्रह्मदेव कुमार

समाचार-पत्र

(१) हिन्दुस्तान
(२) दैनिक जागरण
(३) नई बात